आलोचनात्मक अध्ययन— ८

(प्रश्नोत्तर रूप में)

साकेत

—भारतभूषण 'सरोज' एम. ए.

Veena Dulloo
M.A. Final
Hindi Department
J&K University
Kashmir Division
Amar Singh Bag

मेरे भैया! मेरे चंदा! मेरे अनमोल रत्न!
तेरे बदले मैं ज़माने की कोई चीज़ न लूँ।
वीणाकुलश्रेष्ठ

साकेत

[आलोचनात्मक अध्ययन]

प्रश्नोत्तर में

लेखक—

श्री भारतभूषण सरोज एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

चतुर्थ संस्करण—१९५७
मूल्य १।।)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा।

दो शब्द

यद्यपि आधुनिक युग में गद्य की प्रधानता रही है फिर भी काव्य-सरिता का प्रवाह मन्द हो गया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी दिशा अवश्य बदल गई है। भाषा, छन्द और शैली की दृष्टि से तो उसमें नवीनता आई ही, युग ने उसे एक नया दृष्टिकोण भी दिया है। यही कारण है कि आधुनिक काव्य आरम्भिक तीनों कालों के काव्यों के सर्वथा भिन्न प्रकार के दीख पड़ते हैं।

आधुनिक-काल के कवियों ने अधिकतर अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम गीतों को बनाया फिर भी प्रबन्ध-काव्यों की कमी नहीं रही। वे भी गीत-काव्य से प्रभावित दीख पड़े यह दूसरी बात है। खड़ी बोली के प्रबंध-काव्यों में प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी इस युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी से इन तीन महाकाव्यों को हमने आलोचना के लिये चुना है।

प्रियप्रवास और साकेत अति प्राचीन कृष्णभक्ति और रामभक्ति शाखा के हैं। प्राचीन कथानक को लेने पर भी दोनों काव्यों के रचयिताओं ने मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है। भक्तिकाल के भगवान् राम और कृष्ण इन काव्यों में महामानव बनकर अवतरित हुए हैं। वे पृथ्वी के मानवों को स्वर्ग ले जाने वाले नहीं अपितु पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने के लिये कर्मरत रहने वाले हैं। कामायनी की कथा अत्यन्त प्राचीन युग की होते हुए भी अपने युग की अभिव्यक्ति देने में सफल हुई है। यह महाकाव्य तो इतनी कलापूर्ण लेखनी से लिखा गया है जो सहृदयों को युग २ तक रस प्रदान करता रहेगा। ऐसे काव्य युगों के बाद कभी-कभी लिखे जाते हैं।

इन तीनों महाकाव्यों का अध्ययन-अध्यापन बहुत अधिक होता है। इनकी महत्ता और साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन करने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है । अनेक विद्वानों की पुस्तकों से इससे सहायता ली गई है जिसके लिये लेखक उन पुस्तकों के विद्वान् लेखकों का आभारी है। सुश्री शीलारानी तनेजा, श्रीमती आरोरा एम. ए. तथा कुमारी सरोज वर्मा बी. ए. को मैं उनकी सहायता के लिये साधुवाद देता हूँ।

रामजस-कौलेज,
दिल्ली

भारतभूषण "सरोज"

विषय-सूची

११- महाकाव्य और उद्देश्य।

साकेत

प्रश्न १—साकेत नाम की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए उसकी कथावस्तु का विवेचन कीजिए।

उत्तर—'साकेत' की कथावस्तु भारत की प्राचीन कहानी का नवीन प्रस्फुरित रूप है, जिसको बाल्मीकि और तुलसी ने पूर्ण रीति से आर्य संस्कृति का भरण-पोषण कर जीवन की चिरन्तन समस्याओं के समाधान स्वरूप प्रदर्शित किया है। बस, इसी समय से ही प्रत्येक युग 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के अनुरूप अपनी बुद्धि बल के आश्रय से इस तत्त्व को समझ कर गढ़ता रहा, और आज बीसवीं शताब्दी का यह युग भी इस विषय को अपनी वाणी और बुद्धि के ताने बाने से बुनता चला जा रहा है। इसी प्रत्यत्नावस्था के फलस्वरूप आज प्रतिनिधि कवि-मैथिलीशरण गुप्तजी की अमर कृति 'साकेत' प्राप्त हुई है। कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा अपती कृति का विकास किया है। यद्यपि 'साकेत' राम की अमर गाथा से सुशोभित है तथापि इस क्षेत्र में पदार्पण करते ही राम और सीता की कथा प्रधानतः उर्मिला की कहानी बन जाती है और उसी रूप में उसका विकास और संगठन होता है। इसकी कथा रामचरितमानस की भाँति राम जन्म से लेकर क्रमिक घटनाओं का विकास करते हुए महात्म्य-वर्णन पर जाकर समाप्त नहीं होती। उसमें तो मार्मिक स्थलों का चयन करके उनको अन्वित रूप में विभूषित किया गया है। कथावस्तु के क्रमिक विकास में कवि ने अपनी प्रधान नायिका उर्मिला का महत्त्व भी प्रदर्शित किया है।

परन्तु इसके साथ-साथ सीताजी की मान-मर्यादा में भी हानि नहीं होने दी है। इसी स्थिति को अपनी बुद्धि का विषय बनाकर गुप्त जी ने अपने महाकाव्य का शुभ नामकरण संस्कार स्थान के नामानुसार ही किया है। साकेत अयोध्या का दूसरा नाम है। इससे सीताजी का पद भी अक्षुण्ण रह सका है और उर्मिला ने भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। साकेत नगरी की रानी तो सीताजी हैं अतः उनका सम्बन्ध तो साकेत से है और उर्मिला नायिका है जिसकी जीवन-लता साकेत में ही उत्कर्ष पा सकी है, इससे उसकी जीवन-श्रृङ्खला भी साकेत से जुड़ सी गई है। दोनों ही साकेत की आदर्श प्रतिमाएँ हैं।

गुप्त जी ने मानसकार की भाँति अपने इष्टदेव के साथ-साथ भ्रमण नहीं किया है। मानस का रचयिता तो अपने इष्ट के पद-चिह्नों का अनुगामी सदैव बना रहा है, यदि वे अयोध्या में हैं तो कवि वहीं अपने भाग्य की सराहना करता है, यदि वे बन में हैं तो वहीं अपने को पाकर धन्य समझता है। परन्तु गुप्तजी राम के साथ-साथ नही चलते, वरन् उर्मिला नायिका के साथ अर्थात् साकेत नगरी में आसन जमाते हैं! यदि वे चित्रकूट में जाने का अवसर पाते भी हैं तो समस्त साकेत के साथ 'सम्प्रति साकेत समाज वहीं है सारा।' साकेत के रंगमंच पर ही समस्त घटनाएँ प्रतिफलित होती हैं। प्रारम्भ में उर्मिला और लक्ष्मण के वाग्विनोद से राम के अभिषेक की तैयारी सूचित की जाती है। अभिषेक, कैकेयी-मँथरा-सँवाद, निषाद-मिलन, दशरथ-मरण, भरत-आगमन, चित्रकूट-मिलाप तक की कथाएँ कवि ने दृश्य रूप में उपस्थित की हैं। शूर्पणखा कथा, खर-दूषन-वध आदि उपकथाएँ सूत्र रूप से शत्रुघ्न द्वारा कहलाई गई है। फिर लक्ष्मण शक्ति तक की घटनाओं की वर्णन-माला हनुमानजी साकेत में ही पिरो देते हैं और शेष युद्ध वशिष्ठ जी अपनी योग दृष्टि द्वारा पुरवासियों को दिखलाते हैं। ताड़का वध, धनुष यज्ञ आदि प्रारम्भिक घटनाओं का वर्णन उर्मिला स्वयं करती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कथा की रङ्गभूमि साकेत बनी रही। अतः स्थान-ऐक्य का साकेत की कथावस्तु में सफल प्रयोग

हुआ है और नाम भी पूर्ण रूप से सार्थक प्रतीत होता है। शीर्षक में अनुमान किया जा सकता है कि 'साकेत' की घटनाओं को ही महकाव्य का रूप दिया गया है। नायिका के साथ न्याय कर तथा अपने उद्देश्य को प्रमुख मानकर कवि ने जो कुछ भी किया है वह उसकी कुशाग्र बुद्धि का प्रमाण है।

गुप्तजी ने अपनी समस्त रचनाओं की सृष्टि उपयोगितावाद की दृष्टि से की है। वे 'कला कला के लिये हैं' के समर्थक नहीं, उन्होंने तो कला के दर्शन जीवन में ही पाये हैं। कला की उपयोगिता के वे पूरे समर्थक हैं तभी तो 'साकेत' सरीखे महाकाव्य में भी उन्होंने लिखा है—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती हैं कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिये,
चाहिये पारस्परिकता, ही.........।

इससे स्पष्ट है कि गुप्तजी की कला की उपयोगिता कला के लिये मानने वालों के विरोधी हैं। इसी उपयोगितावाद को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जल निष्फल था यदि तृषा न हममें होती,
है वही उगाता अन्न चुगाता मोती।
निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्टि के लिये व्यष्टि बलिदानी।

किसी छायावादी कवि ने लिखा था 'फूल क्यों फूलते हैं फूलने के लिये। उसमें उपयोगिता की चाह नहीं।' परन्तु गुप्तजी ने अपना मत इसके विपरीत प्रकट किया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उपयोगिता की

दृष्टि से, किसी अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित करने के लिये—

"जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।"

केवल इतना ही नहीं वह सुन्दर वस्तु में जीवन का संचार करती है और भीषण को निर्जीव बना देती है—

"कहा मांडवी ने 'उलूक' भी लगता है चित्रस्थ भला ;
सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला।'

अतः 'साकेत' से सौष्ठव महाकाव्य में भी किसी उद्देश्य की पूर्ति अवश्य हुई है। उसमें आदर्श जीवन की झाँकी मिलती है, जिसे उपस्थित करना महाकाव्य का उद्देश्य होता है। रामचरितमानस का मुख्य उद्देश्य है रावण-वध परन्तु 'साकेत' रामकाव्य होने पर भी इस घटना की उद्देश्य-पूर्ति नहीं करता, क्योंकि साकेत का रंगस्थल है अयोध्या और उर्मिला-विरह ही उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। अतः उसका प्रधान कार्य उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन है और लक्ष्मण-शक्ति, मेघनाद-रावण-वध आदि घटनाएँ अनुषङ्गिक रूप में उसके सम्पादन में सहायक होती हैं। वस्तुतः इस महाकाव्य में आदर्श जीवन-सन्देश मिलते हैं, इसमें चरित्र की प्रधानता और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन ही इसका प्राण है।

महाकाव्य का प्रथम दृश्य ही उर्मिला-लक्ष्मण के सुमधुर दाम्पत्य जीवन की झाँकी उपस्थित करता है। उनके विनोद वाक चातुर्य से उर्मिला के प्रेम और उसकी कलात्मक प्रकृति का परिचय मिलता है। उसके शब्दों में विदग्धता और मनोहारिता की मधुरिमा लक्ष्मण को मंत्रमुग्ध कर देती है। उर्मिला के चरित्र का यह रूप इस युग की एक विशेषता की ओर संकेत करता है। प्राचीन काव्य-नायिकाओं में सर्वत्र एक गाम्भीर्यपूर्ण शील शिष्टाचार की एक झलक पाई जाती है। परन्तु इस युग में आकर शिक्षा और संस्कृति के परिवर्तन के प्रभाव-स्वरूप वाक्‌चातुर्य आधुनिक शिक्षा समाज का एक स्पृहणीय गुण माना जाता है। अतः उर्मिला में भी इस प्रभाव की एक झलक दिखाई देती है। उर्मिला की प्रतिभा में वाकवैभव और कला दोनों का अत्यन्त सुन्दर

सामंजस्य हुआ है। लक्ष्मण प्रेमसागर में निमज्जित हुए उर्मिला के कर कमलों का पराग पान करने के हेतु जैसे ही उत्सुक हो उठते हैं तो उर्मिला मुस्कान की स्मित रेखा सी स्पष्ट करते हुए वाणी-वर्षा कर उठी :—

"मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना।
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना।
वचन सुन सौमित्र लज्जित हो गए।
प्रेम-सागर में निमज्जित हो गए।
पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वही।
चूम कर फिर फिर उसे बोले यही।
सजग अब इससे रहूँगा मैं सदा।
अनुपमा, तुमको कहूँगा मैं सदा।"

लक्ष्मण और उर्मिला के इसी वाग्विनोद में राम के राज्याभिषेक की तैयारी का संकेत मिल जाता है। स्वर्ग तुल्य साकेत नगरी बन संवर कर तैयार होती है। सारा वातावरण प्रसन्नता की सुरभि से महक उठता है, शुभ घड़ी की प्रतीक्षा पुरवासी व्यग्रता के साथ करते हैं, वृद्ध दशरथ तो अपने भार से मुक्त होने की कल्पना से मुग्ध होते हैं, भरत की अनुपस्थिति उन्हें अवश्य खलती है। परन्तु विधि की विडम्बना बड़ी ही रहस्यमयी है। भरत की अनुपस्थिति में रामराज्य का विधान करना मंथरा को खलता है। इससे उसे राजा दशरथ और कौशल्या की कुवृत्ति दिखाई देती है। अतः एक विश्वासपात्री दासी होने के नाते वह कैकेयी के समक्ष एक शंका उपस्थित कर देती है—

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।

इससे वह एक झंझावात सा खड़ा कर देती है जिससे रामराज्य का समस्त विधान क्षत विक्षत सा हो जाता है। यही कारण है कि—

जहाँ अभिषेक अम्बुद छा रहे थे
मयूरों से सभी सुख पा रहे थे

वहीं परिणाम में पत्थर पड़े यों
खड़े ही रह गए सब थे खड़े ज्यों।

मानापमान की चिन्ता न कर, दशरथ के लाख अनुनय विनय करने पर भी कैकेयी भरत राज्याभिषेक और राम-वनवास ये दो वर माँग लेती है। ये दोनों वर राजा ने देवासुर संग्राम में दिये थे जो अभी तक धरोहर रूप में पड़े थे। दृढ़ प्रतिज्ञ दशरथ के मुखारविन्द से अस्वीकृति के वचन तो निकल न सके परन्तु वे पुत्र वियोग की कल्पना में ही राम-राम रट लगाते हुए स्वर्गारोहण कर जाते हैं और श्रीराम सीता और लक्ष्मण सहित बन-गमन करते हैं। तदुपरान्त वियोग का हृदय विदारक दृश्य आता है। दशरथ, सुमित्रा, कौशल्या आदि की वेदना का चित्रण कर कवि महाकाव्य की नायिका उर्मिला की गहन, गम्भीर और रहस्यमय अन्तर्वेदना से परिचय पाता है। दशरथ सत्यनिष्ठ बने, कौशल्या ने मातृ आदर्श खड़ा किया, सुमित्रा ने क्षत्रियत्व की आन को सन्मुख रखा—परन्तु सीता ने सोचा मन में—'स्वर्ग बनेगा अब बन में,' लक्ष्मण ने प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे,' के भय से 'रहो, रहो, हे प्रिये! रहो!' कह दिया, परन्तु उर्मिला क्या सोचती, विवश भाव से मान गईं। वस्तुतः यह विवशता कितनी स्वाभाविक है, इसमें मानव-हृदय का मार्मिक क्रन्दन है, वेदना है और है कारुण्य की धारा। वह देवता का प्रस्तर पाषाण हृदय नहीं। उसमें विवशता है, जिससे विवश होकर उसका स्वार्थ त्याग-भरा हो जाता है और वे कह उठती हैं—

"हे मन, तू प्रिय पथ का विघ्न न बन"
आज स्वार्थ है त्याग भरा! है अनुराग विराग भरा।
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक भार से चूर्ण न हो।
भ्रातृ-स्नेह सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग-भाव सरसे!"

इधर सुमन्त्र वल्कल ले आते हैं और सीताजी मृणालयुत दो शतदलों को आगे बढ़ाती हैं। राम के लाख समझाने, वन के कष्टों को निर्देश करने पर भी उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे सहज ही कह उठती हैं—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ, तुम तो हो जो नहीं यहाँ।
मेरी यही महामति है—पति ही पत्नी की गति है।

सीता जी की इन बातों ने उर्मिला के कितने गहन अन्तस्तल को स्पर्श किया होगा, उसके हृदय में व्याकुलता और विवशता का कैसा तूफान उठा होगा परन्तु वे क्या कर सकती थीं, केवल दुःख भार से मुग्ध होकर, कहकर, "हाय!" धड़ाम गिरीं और फिर सीता जी भी उनकी विवशता को जान कर बोल उठीं—

"आज भाग्य है जो मेरा, वह भी हुआ न हा! तेरा!"

वस्तुतः यही साकेत का वह मार्मिक स्थल है जहाँ कवि ने अपनी कला की कलम तोड़ी है। कवि ने युग-युग के इस उपेक्षित प्रसंग में मर्मस्पर्शिता लाकर उसे अपनी सूक्ष्म तूलिका से चित्रित किया है। राम और सीता के हृदय में उर्मिला हेतु करुणा के उद्गार उमड़ पड़ते हैं, परिस्थिति की यही करुणा उसके चरित्र को महान बनाने में सहायक सिद्ध होती है। आगे चलकर दशरथ-मरण और भरत आगमन के दृश्यों में तो मानों साकेत की करुणा समस्त व्यवधानों को तोड़कर प्रवाहित हुई हो। दशरथ पुत्र-वियोग में प्राण विसर्जन करते हैं जिससे कुटुम्ब तथा नगर में शोक और करुणा का प्रभाव तीव्र होकर प्रवाहित होने लगता है। यहाँ कवि ने कौशल्या, सुमित्रा, वशिष्ठ, कैकेयी एवं भरत सभी की मनोदशाओं का सूक्ष्म चित्रण किया है परन्तु उर्मिला के विषय में—

"उर्मिला सभी सुध बुध त्यागे,
जा गिरी कैकेयी के आगे॥"

मात्र कहकर फिर उसके विषय में मौन हो जाता है। उसकी इसी अवस्था में उसके जीवन की पुन्जीभूत करुणा निखर उठती है, कैकेयी का हृदय भी उर्मिला के इस कथन से—

"जीती है अब भी अम्ब उर्मिला बेटी
इन चरणों की चिरत्कार रहूँ मैं चेटी।"

पसीज जाता है और तभी कवि अपने मन की बात उससे कहलवा देता है :—

'आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आजा,
पिस मुझसे चन्दन-लता मुझी पर छाजा।'

साकेत का यह स्थल अत्यन्त ही भाव-पूर्ण बन पड़ा है। नवम सर्ग तो पूर्णतः उर्मिला के अश्रु-मुक्ताओं से परिपूरित है और उच्छ्वासों का एक ताना बाना सा बुना गया है। दशम सर्ग में वह स्वयं सरयू से अपने जन्म, शैशव, रघुकुल की वंश परम्परा, राम लक्ष्मण जन्म, ताड़का बध आदि का वर्णन करती है। इसी प्रसङ्ग में उर्मिला ने आत्म जीवन-विषयक स्वप्न निधि को भी बिखेर दिया है जिससे उसके चरित्र की रूप-रेखा अंकित होती है।

एकादश सर्ग में माण्डवी और भरत उर्मिला की शोचनीय अवस्था का जैसे ही वर्णन करते हैं उसी समय शत्रुघ्न आकर लक्ष्मण के साहसिक कार्यों की कुँजी खोल देते हैं। तदुपरान्त सीता-हरण से लक्ष्मण-शक्ति तक की सभी घटनाओं की तूलिका हनुमान द्वारा बनाई जाती है। कवि ने लक्ष्मण-शक्ति पर विशेष महत्व दिया है क्योंकि राम-लक्ष्मण के भाग्य से ही तो उर्मिला की भाग्य-रेखा लिपटी हुई है। हनुमान के गमन के अनन्तर समस्त पुरवासी लंका पर आक्रमण हेतु सज्जित होते हैं। यहीं उर्मिला का वीर-पत्नीत्व स्पष्ट होता है ज्योंही शत्रुघ्न जाने को प्रस्तुत होते हैं वैसे ही उर्मिला आ जाती है। उसका रूप साक्षात् भारत माता का रूप है। उसके शब्दों में देश की आत्मा की पुकार है, जिससे जन-जन पुलक उठता है। यहीं पर उसका महान स्वरूप अंकित किया गया है। तदनन्तर वशिष्ठ जी की दिव्य दृष्टि द्वारा लंका का सम्पूर्ण दृश्य साकेतवासियों के सम्मुख आ जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त कथाभाग से यह स्पष्ट है कि कवि ने समस्त घटनाओं को नायिका के व्यक्तित्व द्वारा बड़े ही भाव पूर्ण ढंग से अन्वित किया है। सभी घटनाएं उसके चरित्र के विकास की साधन स्वरूप हैं और वियोग की करुणा और त्याग की महत्ता को स्पष्ट करती हैं। साकेत का प्रत्येक पात्र उसके चरित्र विधान से किसी अंश तक संबद्ध अवश्य है।

घटनाओं के क्रमिक विकास की दृष्टि से यदि साकेत कथावस्तु की

परीक्षा की जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अरस्तू के नियमानुसार ही आदि, मध्य और अवसान के रूप में वस्तु-विन्यास संघठित है। उर्मिला-लक्ष्मण के मधुर वाग्विनोद से लेकर चित्रकूट मिलन तक आदि, समस्त विरह-निवेदन मध्य, और एकादश सर्ग में शत्रुघ्न द्वारा राम के कार्यों के विवरण से लेकर मिलन तक अवसान है। नवम और दशम सर्ग में विरहिणी का विरह-निवेदन मध्य के बिल्कुल अनुकूल है और कथा प्रवाह में आवश्यक यति का नियंत्रण करता है। शत्रुघ्न द्वारा राम के साहसिक कृत्यों का वर्णन कथा को अवसान की ओर उन्मुख करता है। उनके शब्दों में शूर्पणखा के अपमान का प्रसङ्ग भी है जो साकेत की चरण घटना (catastrophe) अर्थात् लक्ष्मण पुनर्जीवन का बीज स्वरूप हैं। सूर्पणखा के प्रसङ्ग से ही प्रत्याशा प्रारम्भ हो जाती है और लक्ष्मण की मूर्छा भंग होते ही नियताप्ति होती है। आगे चलकर मेघनाद के वध से रावण और उसके साथ ही उर्मिला-लक्ष्मण मिलन निश्चित होता है। इस प्रकार कार्य सिद्ध हो जाती है अतः साकेत का वस्तु-विन्यास पूर्णतः सफल हुआ है।

गुप्त जी ने कथा प्रवाह को रोचक बनाने के लिये नई उद्भावनाओं का विकास भी किया है। वस्तुतः साकेत-रचना का मुख्य उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला के प्रति न्याय करना था अतः उसी के अनुसार आवश्यक उद्भावनाएँ भी हुई हैं। उपेक्षित प्रसङ्गों का चयन करके कवि ने सविस्तार उनका चित्रण किया है। चित्रकूट की सभा में कैकेयी स्वयं अपनी सफाई देती है। तुलसी ने तो गरी गलानि कुटिल कैकेयी कहकर ही उसे छोड़ दिया था, परन्तु यहाँ वह अपने मातृत्व और वात्सल्य भाव की दुहाई देकर अपने कृत्य का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करती है, जिससे उसका चरित्र उज्ज्वल हो उठता है। हृदयाकाश से मोह का तम दूर हो जाता है वह पुनः स्वच्छता और निर्मलता से शासित हो जाता है। वस्तुतः उर्मिला के चरित्र विकास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर साकेतवासियों की रण-सज्जा, कवि की राष्ट्रीयता सजग

हो उठी है। यह उद्‌भावना स्वाभाविकता, भावुकता और राष्ट्रीयता का फल तो है ही, साथ ही उर्मिला के चरित्र के वीर पक्ष पर भी प्रभाव पड़ता है।:

कैकेयी-मंथरा-संवाद में मनोविज्ञान का आश्रय लिया गया है— 'गई गिरा मति फेर' का नहीं। इसलिये साकेत की मंथरा चली जाती है और उसका वहाँ से चला जाना ही मनोविज्ञान की एक रीति है। इससे इसका प्रभाव भी अभीसिप्त ही होता है:—

"गई दासी पर उसकी बात
दे गई मानों कुछ आघात।"

फिर राजा दशरथ ही वर माँगने का कैकेयी को स्मरण दिलाते हैं। कैकेयी के लिये तो ये दोनों वर स्मृति-पट से मिट चुके थे। इसी प्रकार कवि ने अनेक मौलिक उद्‌भावनाओं द्वारा काव्य में रोचकता और सरसता का सुन्दर सामंजस्य किया है।

इस प्रकार कवि ने उपेक्षित स्थलों में भावुकता की भावना का रंग भर कर अप्राकृतिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या करके अपनी सूक्ष्म तूलिका द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रण करके सम्पूर्ण काव्य के कलेवर की रूपात्मकता को ही परिवर्तित कर दिया है। वस्तुतः इसी में कवि का गौरव और महत्व है।

———

प्रश्न २—साकेत के घटना-ऐक्य तथा नायक निर्णय के आधार महाकाव्यत्व की दृष्टि से उसकी आलोचना कीजिये।

उत्तर—अभिनव-युग के कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य की निधि को अपनी अनेक कृति-मणियों द्वारा अलंकृत किया है, जिनमें 'साकेत' सर्वतोमुखी उज्ज्वल माणिक्य ग्रंथ है। कवीन्द्र रवीन्द्र की उत्प्रेरणा से प्रेरित होकर कवि ने उपेक्षिता उर्मिला को प्रकाश में लाने के हेतु इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। जिसमें युगों की उपेक्षित' नारी का कण्ठ-स्वर गा उठा है। विवाह के पश्चात् अभिलाषाओं की कलियाँ अभी अर्धविकसित ही थीं कि लक्ष्मण कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़

हुए अग्रज के संग बन को चले गए और वियोगिनी उर्मिला पीछे से दीर्घकालीन अवधि-शिला को नयन-नीर से तिलतिल काटती रही। अतः उर्मिला को विरह की अग्नि में तपाकर तप्त स्वच्छ स्वर्णवत् ज्योतिर्मय रूप में प्रकाशित करना ही कवि का कर्त्तव्य रहा है। वस्तुतः यह काव्य घटना प्रधान की अपेक्षा चरित्र प्रधान अधिक है और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन ही इसका प्राण है। उसकी एकता की परीक्षा करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि काव्यगत पात्र और घटनाएँ नायिका के चरित्र-विकास में कहाँ तक सहायक हैं।

प्रथम दृश्य में लक्ष्मण और उर्मिला के मधुर वाग्विनोदऔर कलात्मक प्रकृति का परिचय मिलता है। उसके शब्दों में विदग्ध विनोद की मधुरता है। साथ ही उसके वाक् माधुर्य से आर्य अभिषेक की सूचना भी मिलती है। इसीलिये स्वर्ग तुल्य साकेत नगरी बन सँवर कर तैयार होती है,ऐसा जान पड़ता है मानों प्रसन्नता की सुरभि ने चतुर्दिक अपने आगमन का संदेश दे दिया हो। इस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा लोग बड़ी व्यग्रता से करते हैं और दशरथ तो अपने भार से मुक्त होने की कल्पना मात्र से ही मुग्ध हो रहे हैं। परन्तु विधि का विधान बड़ा रहस्यमय है। विधाता की विडम्बना से वियोग का हृदयविदारक दृश्य प्रत्यक्षीकृत होता हैं। भरत की अनुपस्थिति में रामराज्य का विधान करना मंथरा की बुद्धि में कुवृत्ति उत्पन्न कर देता है और वह विश्वासपात्र दासी होने के नाते कैकेयी के समक्ष एक शंका का बीज बो कर अनिष्ट-फल देखना चाहती है।

भरत से सुत पर भी संदेह
बुलाया तक न उसे जो गेह।

इससे रामराज्य का सारा विधान क्षत विक्षत हो जाता है। कैकेयी देवासुर सँग्राम में दिये गए दो वरों की दशरथ की प्रतिज्ञा से अब इष्ट-साधन पूर्ण करती है। दृढ़ प्रतिज्ञ दशरथ अस्वीकृत के वचन तो कह न सकते थे वियोग की पीड़ा में राम राम की रट लगातेरस्वर्गारोहण करते हैं और फिर कवि कौशल्या और सुमित्रा की वेदना को चित्रित करके फिर

सीता के निश्चय और उससे उत्पन्न सुख की ओर संकेत करने के उपराँत कवि उर्मिला की विकट परिस्थिति को चित्रित करता है। दशरथ सत्य का अवलम्बन ले गए, कौशल्या ने मातृ आदर्श को ग्रहण किया और सुमित्रा ने क्षत्राणी का आदर्श सम्मुख रखा और सीता ने सोचा स्वर्ग बनेगा अब वन में, लक्ष्मण ने भी 'प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे' के भय से 'रहो रहो हे प्रिये रहो' कह दिया, परंतु उर्मिला क्या सोचती ? उसकी विकट परिस्थिति थी। विवशता के वशीभूत होकर उसने स्वीकृति का पथ ग्रहण किया और मन को प्रबोध प्रदान किया—

हे मन !

तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा !
है अनुराग विराग भरा !
तू विकार से पूर्ण न हो !
शोक भार से चूर्ण न हो !

परन्तु परिस्थिति की विषमता उसे परवश कर देती है जब सीता राम को यह कहकर निरुत्तर सा कर देती है:—

'अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ,

तथा— "मेरी यही महामति है
पति ही पत्नी की गति है"

इस तीव्र भाव का अप्राकृतिक सँकोच एवँ दमन उसे मुग्ध बना देता है और वह हाय कहकर धड़ाम गिरती है। इसमें विवशता और मर्यादा-जन्य करुणता कितनी प्रबल है और एक साथ करुण है। उसकी वेदना को सीता ने भली प्रकार समझा और इसीलिये उसने यह स्पष्ट किया है-

आज भाग्य है जो मेरा
वह भी हुआ न हा ! तेरा

सीता के इन वाक्यों में उर्मिला की गौरव-गरिमा की रक्षा हुई है। यदि वह स्वयँ इन भावनाओं को व्यक्त करती तो उनमें ईर्ष्या का भाव

निहित रहता । इसी में तो नायिका के आदर्श की सँरक्षा का कौशल है । वस्तुतः 'साकेत' का सर्वतोमुखी मार्मिक स्थल यही है जिससे समस्त काव्य-सामग्री का सृजन हुआ है । युग युग के इस उपेक्षित प्रसङ्ग में कवि ने जीवन देकर उसे महत्त्वपूर्ण बना दिया है । उर्मिला की परिस्थिति की विषमता सभी के हृदय में करुणा के उद्‌गार प्रस्फुटित करती है । यही परिस्थिति की करुणा आगे चलकर नायिका के चरित्र में महानता का संदेश देती है । इसके आगे कवि नायिका के विषय में मौन रहता है । बीच में एक बार कैकेयी के आगे उर्मिला के गिरने का संकेत किया गया है । कैकेयी उसके कारुण्य-कातर स्वर को सुनकर तड़प उठती है और कवि उसके मन की बात उसके द्वारा कहला देता है:—

'आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आजा,
पिस मुझसे चन्दन-लता मुझी पर छा जा ।'

इस घटना से पूर्व दशरथ-मरण और भरत-आगमन के करुण दृश्य भी हैं । फिर आगे चलकर चित्रकूट में सीता के लाघव से उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन होता है, जो 'साकेत' का अत्यन्त भावपूर्ण स्थल है । वहाँ उस कुटिया में लक्ष्मण कोणस्थ उर्मिला रेखा को देखकर चकित से विमूढ़ हो जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि 'वह काया है या शेष उसी की छाया' इतने ही में अभिभूत भावना का बाँध टूट पड़ता है । लक्ष्मण को चकित देख उर्मिला पुकार उठती है:—

'मेरे उपवन के हरिण आज बनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजोभयभारी ।'

इस पर लक्ष्मण 'प्रिया-पद-तल' में आकर गिर पड़े और वह 'भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग जल में ।' फिर लक्ष्मण उर्मिला की गौरव-गरिमा को व्यक्त करते हुये बोल उठे:—

'वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।'

इस पर उर्मिला प्रिय की सन्तुष्टि में सन्तुष्ट होकर मौन रह जाती है। फिर सारा नवम सर्ग उसके वियोग भरे उच्छ्वासों से बुना पड़ा है। दशम सर्ग में वह स्वयं सरयू से अपने बाल-जीवन, रघुवश की परम्परा पुष्पवाटिका प्रसङ्ग, धनुष-यज्ञ आदि का वर्णन करती है। आत्मविषयक सामग्री भी उर्मिला ने पर्याप्त रूप में प्रस्तुत की है। जिससे उसके चरित्र की रूपरेखा अंकित हो जाती है। एकादश सर्ग में माण्डवी और भरत उर्मिला की शोचनीय अवस्था का चित्रण कर ही रहे थे कि शत्रुघ्न आकर राम-लक्ष्मण के साहसिक कार्यों की चर्चा करते हैं। तदुपरान्त सीता-हरण से लेकर लक्ष्मण शक्ति तक की सभी घटनाओं का विवरण हनुमान देते हैं। लक्ष्मण-शक्ति का वृतान्त उर्मिला नायिका का भाग्य-रेखा को अंकित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। हनुमान के चले जाने के पश्चात् अयोध्यावासी लंका पर चढ़ाई करने के लिये सज्जित होते हैं। यहाँ उर्मिला वीर प्रतिमा के रूप में दिखलाई देती है। उसके शब्दों में साकेत के युग प्रतिनिधित्व का सार है, उसका संदेश देश की आत्मा की पुकार है। यही उसका महान स्वरूप अंकित होता है। तदुपरान्त वशिष्ठ की योग दृष्टि द्वारा लंका का सारा दृश्य साकेत-वासियों को दिखाई दे जाता है। फिर राम, सीता और लक्ष्मण सहित विजयी होकर लौट आते हैं और लौटने पर सब कुछ तो होता ही है, परन्तु विशेषतः—

'गायी प्रभु ने वधू उर्मिला की गुण-गीता।'

इस प्रकार कवि ने सभी घटनाओं को नायिका के व्यक्तित्व द्वारा भाव पूर्ण ढँग से अन्वित किया है। सभी घटनाएँ उर्मिला के चरित्र पर घात-प्रतिघात करती हैं और उसके वियोग की करुणा और त्याग की महत्ता को स्पष्ट करती हैं। प्रत्येक पात्र किसी न किसी रूप में उसके चरित्र पर प्रकाश डालता है। सभी के मुखारविन्द की वाग्धारा उसकी गौरव-गरिमा का विश्लेषण करती है। अतः यह स्पष्ट है कि महाकाव्य की नायिका उर्मिला है और लक्ष्मण स्वाभाविक रूप से नायिका का पद प्राप्त करता है।

खड़ी बोली के महाकाव्यों में 'साकेत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता महाकाव्यत्व की विशेषताओं पर ही आधारित है। संस्कृत के रीति ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण उपलब्ध होते हैं उनको यथासाध्य रूप में चरितार्थ किया गया है। प्रारम्भ में गणेश को लेकर मंगलाचरण और सरस्वती की वन्दना है। कथा लोक प्रसिद्ध नायक की है जो सद्वंश जातीय है। प्रधानतः शृंगार के वियोग का चित्रण है, वीर करुण आदि गौण रूप में आए हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में धर्म की सिद्धि होती है। वर्णनों में नगर (साकेत) प्रेम, यात्रा, प्रभात, संध्या, रजनी, सरिता (सरयू, गंगा) पर्वत (चित्रकूट), षट ऋतुओं, मृगया, वन, रण-सज्जा, युद्ध आदि के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त कला, देशानुराग, दाम्पत्य-सम्बन्ध, जड़वाद (Materialism), राजा-प्रजा के सम्बन्ध, उपयोगितावाद, नारी की महत्ता आदि पर भी व्यख्यान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के सभी नियमों का पालन किया गया है। अतः 'साकेत' महाकाव्य की दृष्टि से सफल काव्य है। कुछ आलोचकों को 'साकेत' के महाकाव्यत्व पर आपत्ति है क्योंकि उसमें कहीं-कहीं नियमोलंघन भी पाया जाता है। परन्तु इस दृष्टि से 'काव्य' को महाकाव्य के पद से गिराना अन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार तो रामायण में भी सर्ग की दृष्टि से 'आठ' सर्गों की अपेक्षा सात ही सर्ग हैं परन्तु उसके महाकाव्यत्व में शंका नहीं की जाती है। 'साकेत' में नियमों को पूर्णतः चरितार्थ किया गया है भले ही उसमें अन्य कोई त्रुटि हो। साकेत सर्गबद्ध रचना है और महाकाव्य के सम्बन्ध में तो कहा गया है कि 'सर्गबद्धो महाकाव्या' । साकेत में आठ की अपेक्षा बारह सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में अलग-अलग एक छन्द का प्रयोग किया है। सँगीत जो महाकाव्यत्व की दृष्टि से आवश्यक माना गया है उसका 'साकेत' में पूर्ण स्थान है। मौलिकता की दृष्टि से नवम् सर्ग में कुछ ऐसे छन्दों का प्रयोग किया गया है जो रीतिकालीन प्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त महाकाव्योचित मङ्गलाचरण आदि का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। 'सरयू' की

महत्त्वपूर्ण दृष्टि इस बात की द्योतक है कि उसमें महाकाव्योचित लक्षणों का पूर्णत: समावेश हुआ है। साकेत की महत्ता को कितनी सुन्दर शब्दावली द्वारा चित्रित किया गया है:—

"स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती !"

'साकेत' के नायक लक्ष्मण भी सर्वगुणसम्पन्न वीर योद्धा हैं। कवि ने उनके तेजस्वी रूप का परिचय "शौर्य-सह सम्पत्ति लक्ष्मण-उर्मिला" के रूप में दिया है। उनके अपने शब्द, उनके कृत्य, दूसरों के उनके विषय में शब्द :—

"तूने निज नर-नाट्य किया प्राणों के पण से।
इस पौरुष के पड़े अमरपुर में भी लाले।"

उनकी इसी विशेषता का सँकेत करते हैं। जीवन की अन्य साधनाओं की अपेक्षा वे कर्त्तव्य-पथ पर सदा आरूढ़ रहते हैं और इसी कर्त्तव्य-भावना से उत्प्रेरित होकर वे अपनी प्रिया उर्मिला से भी नव-वय में प्रेम से विश्लेष कर चले जाते हैं। इस भ्रातृ-प्रेम मय कर्त्तव्य में जो त्याग की भावना छिपी है वही आदर्श नायक का प्राण है। 'साकेत' में वे पुण्य-प्रेम की पावन प्रतिमा और तेजोमय रूप में दिखाई देते हैं। यहाँ वे कमल से भी कोमल और कुलिश से भी कठोर चित्रित किये गए हैं—केवल कर्त्तव्य-भावना के पथ पर आरूढ़ होकर। 'साकेत' की नायिका उर्मिला है जो उस कुल की सहृदय वधू है, जो अपनी प्रतिष्ठा में अद्वितीय था' लक्ष्मण ने यदि भ्रातृ-प्रेम का आदर्श खड़ा किया था तो उर्मिला ने भी त्यागमय जीवन से पति की साधना में योग दिया। 'साकेत' के कवि ने वियोगिनी उर्मिला को अपने महाकाव्य का केन्द्र बनाया है। आरम्भ में वह भी लक्ष्मण की भाँति भावुक प्रेमिका मात्र है, परन्तु नवें दसवें सर्ग में विरह की आग में 'तपकर' यह यशोधरा की नाईं पूत हो उठी है। कालिदास के कुमार सम्भव आदि काव्यों में प्रेम

के इसी रूप को प्रदर्शित किया गया है। सूरदास ने राधा को भी इसी रूप में उपस्थित किया है। परन्तु क्या व्रती लक्ष्मण संगिनी को इस रूप में दिखाना वांछनीय था। कदाचित इसी प्रश्न को सोचकर कवि ने द्वादश सर्ग में उर्मिला को अयोध्या की सेना के सम्मुख वीर क्षत्राणी के रूप में उपस्थित किया है, शत्रुघ्न लंका को लूटने की बात कहते ही हैं कि :—

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
× × × ×
गरज उठीं वह—"नहीं, नहीं पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।"

यहाँ पर उर्मिला ने महान् आदर्श उपस्थिति कर दिया है। उर्मिला के चित्रण में गुप्तजी का अक्षर-अक्षर अनुप्राणित हो उठा है। उर्मिला की अश्रुसिक्त तस्वीर को अंधकार के गह्वर से निकाल कर प्रतिभा के प्रकाश में लाने के लिये ही कवि ने महाकाव्य के सृजन का अनुष्ठान किया है।

लक्ष्मण के शर की अनी बनाकर टाँकी,
मैंने विरहिन की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में, हँसी वदन पर बाँकी;
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी।

अतः साकेत का प्रधान रस विप्रलम्भ शृङ्गार हैं। उर्मिला के विषाद को ही इस महाकाव्य में स्थान दिया गया है। अन्य रसों करुणा और शान्त का भी परिपाक हुआ है परन्तु गौण रूप में। कौशल्या के उद्‌गारों में शान्त रस और रावण के साथ युद्ध वर्णन में वीर रस का संचार हुआ है।

इसके अतिरिक्त साकेत में नाटकीय तत्त्वों का भी स्वमेव विधान हो गया है। संवादों के उपयोग से महाकाव्य का कथा-प्रवाह अत्यन्त रोचक बन पड़ा है जिससे महाकाव्य में अनुपमता आ गई है। नाटकीय

विषमता (Dramatic Irony) का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। इस प्रकार साकेत में सानुबंध कथा, वस्तु-वर्णन, भाव, व्यंजना और संवाद आदि वर्त्तमान हैं।

हिन्दी के समीक्षकों ने संस्कृत के आधार पर दो प्रकार के महाकाव्यों की सृष्टि की है—घटना प्रधान और चरित्र प्रधान। साकेत प्रधानतः चरित्र प्रधान महाकाव्य है, यद्यपि उसमें घटनाओं को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। लक्ष्मण का आदर्श और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन एक साथ व्याप्त है। वास्तविकता की दृष्टि से जितने भी पात्रों की सृष्टि हुई है सभी कोई न कोई आदर्श उपस्थित करते हैं। राम तो हैं हीं आदर्श राम, जो कवि द्वारा मानव रूप में चित्रित किये गये हैं। उनके साथ उनकी प्रकृति सीता भी आदर्श की प्रतिमा है। शेष भरत, कौशल्या सुमित्रा, कैकेयी आदि भी एक आदर्श भावना की रूपरेखा अँकित करते हैं। अतः महत् चरित्र की कल्पना कवि की मुख्य विशेषता रही है।

इसके अतिरिक्त स्थूल रूप से महाकाव्य के दो वर्ग माने गये हैं—परम्परागत और साहित्यिक। परम्परागत के रूप में होमर की रचनाएँ और पृथ्वीराज रासो आदि प्रमुख हैं। साहित्यिक महाकाव्य कामायनी पद्मावत आदि की भाँति रचित होते हैं। 'साकेत' की कथा परंपरा प्राप्त है। वाल्मीकि, तुलसी आदि ने जिस कथा-सूत्र का आश्रय लिया था उसी को गुप्तजी ने अपने महाकाव्य का आधार बनाया है। फिर भी उसमें साहित्यिक गुणों की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ—नूतन छंदों का अभिनव रूप में प्रयोग, उईनुमा प्रयोग, रीतिकालीन छंदों की प्रभाव प्रबन्धात्मक, गीतिकाव्यत्मक तथा नाटकीय शैली आदि का सुन्दर प्रयोग भी 'साकेत' में हुआ है। मुक्तक और प्रबन्ध शैली के साथ आधुनिक लाक्षणिक शैली का मिश्रण उत्तमता की कसौटी पर खरा उतरता है जिससे 'साकेत' का महाकाव्यत्व स्पष्ट लक्षित हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साकेत' उक्त वर्गीकरण के आधार पर पूरा उदारता है। उसकी कथा परम्परा तो है ही, साथ ही साहित्यिक विशेषताएँ भी कूट-कूट कर भरी पड़ी हैं।

पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर भी महाकाव्यों के दो वर्ग माने गए है—Epic of Growth and Epic of Art. Epic of Growth को संकलात्मक तथा "Epic of Art" को कलात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी गई है। संकलनात्मक महाकाव्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। 'साकेत' महाकाव्य भी काव्य कला की दृष्टि से जीवन संदेशों को उपस्थित करता है। उसमें सामाजिक दृष्टि से जीवन के आदर्श सर्वत्र प्रस्तुत किये गए हैं। साथ ही कलात्मकता का भी पूर्ण समावेश हुआ है। आदर्श-जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत करना तो इस महाकाव्य का प्रधान उद्देश्य रहा है।

अतः उक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि साकेत एक सफल महाकाव्य है। महाकाव्य के समान ही इसका निश्चित आरम्भ विकास और अन्त हुआ है। साथ ही कथा पर आधारित रह कर जीवन के आदर्शों को परोक्ष रूप में उपस्थित किया गया है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि महाकाव्य के नायक और नायिका से अन्याय किया गया है। वह अन्याय राम और सीता के पक्षपात जनित हैं। उर्मिला में ऐसी विशेषताओं का समावेश नहीं किया गया जिससे वह नायिकात्व के गौरव को प्राप्त कर सके। अन्य महाकाव्यों की भाँति 'साकेत' के नायक और नायिका का प्रभाव अन्य पात्रों पर नहीं पड़ता वरन् वे राम और सीता से ही प्रभावित दिखाई देते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता। आदर्श की दृष्टि से यह अवश्य उपयुक्त प्रतीत होता है। लक्ष्मण और उर्मिला की महत्ता राम और सीता के समक्ष नत होने में ही है। अतः यह दूषण न होकर भूषण ही हुआ है। जिस प्रकार आठ से कम सर्ग होने पर भी रामचरितमानस महाकाव्य के पद पर ही प्रतिष्ठित है उसी प्रकार नायक और नायिका में कुछ कमी होने पर भी साकेत का महत्व अक्षुण्ण है।

प्रश्न ३—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से साकेत की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—'साकेत' कविवर मैथिलीशरण गुप्तजी की सर्वप्रमुख

चरित्र प्रधान रचना है, और इसमें कवि की कला का चरम विकास हुआ है। यद्यपि मूलरूप में महाकाव्य का कथाभाग 'बाल्मीकि रामायण' और 'रामचरित मानस' से साम्य रखता है तथापि कवि ने अपने कला-चातुर्य से उसमें परिवर्तन ला दिया है। जिससे उनके महाकाव्य में मौलिकता का समावेश हो गया है। कवि कुल गुरु चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास ने बाल्मीकि के कथा-विधान में परिवर्तन किया था और उनके नर राम को नारायण बना दिया था। तुलसी ने राम को ईश्वर का अवतार मानकर उन्हें भक्ति का साधन बनाया है परन्तु गुप्तजी के राम उनसे सर्वथा भिन्न हैं जो अवतार रूप भले ही हों पर हम से अर्थात् इस लौकिक मानव से भिन्न नहीं हैं। गुप्तजी के राम ने तो स्वयं ही कहा है कि मैं भव को वैभववान बनाने और मानव को विकसित कर ईश्वरवत बनाने आया हूँ। मैं स्वर्ग या मुक्ति का सन्देश लेकर नहीं आया, वरन् इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने आया हूँ।—

> भव में नव-वैभव व्याप्त कराने आया,
> नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
> सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
> इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

परन्तु फिर भी राम गुप्तजी के काव्य में साधक रूप बन गए हैं, वह उनके उद्देश्य रूप नहीं हैं। 'साकेत' का उद्देश्य-उर्मिला के चरित की महत्ता प्रतिपादित करना है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला की ओर संकेत किया था और बाल्मीकि और तुलसी की भूल बताई थी, उन्होंने उर्मिला जैसे आदर्श पात्रों को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि में गुप्तजी ने उर्मिला ही नहीं 'साकेत' के अन्तर्गत कैकेयी माण्डवी, श्रुतिकीर्ति, भरत, शत्रुघ्न सभी पात्रों का उद्धार करने का प्रयास किया है। वस्तुतः साकेतकार का प्रधान उद्देश्य लक्ष्मण और उर्मिला के महच्चरित को प्रकाश में लाना है। श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर के शब्दों में—

"मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिभा प्रतिष्ठित करने के लिये भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गंभीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश में उड़ता है। उस मन्दिर में जो प्रतिभा प्रतिष्ठित होती है उसके देव भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों में आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।"

रवीन्द्र की इसी पुण्य वाग्धारा को चरितार्थ करने के हेतु गुप्तजी ने लक्ष्मण जी की पुण्य प्रतिमा को अपने महाकाव्य में उपस्थित किया है, और उर्मिला का चित्र और अधिक स्पष्ट करके उन्होंने औचित्यपूर्वक रामायण की कथा को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किसी भी सफल महाकाव्य के लिए यह अनिवार्य रूप से होता है कि मुख्य पात्र को अन्य पात्र घात-प्रतिघात द्वारा प्रभावित करें और पृष्ठ-भूमि के रूप में उपस्थित होकर उसको प्रकाशित करें। गुप्तजी का 'साकेत' को इस कसौटी पर कसने से सफलीभूत हुआ है। उसमें कवि का लक्ष्य चरित्र उर्मिला-लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या सुमित्रा आदि के बीच में ही विकसित होता है। काव्य के सभी पात्र प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उर्मिला से सम्बन्धित हैं। लक्ष्मण का जीवन तो उर्मिला से प्रकाश-छाया की भाँति सम्बन्धित है। राम की कर्त्तव्य-परायणता, सीता की एकान्त पतिलीनता, कैकेयी की विक्षुब्ध वात्सल्य भावना और सुमित्रा का उग्र मातृत्व भी उर्मिला के चरित्र-विकास का संबल है। इस प्रकार किसी न किसी परिस्थिति में अन्य सभी पात्र उर्मिला के चरित्र का विकास करते हैं, और उर्मिला का चरित्र भी इन पात्रों का स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है।

महाकाव्य में प्रधान पात्र का सम्बन्ध कथा के क्रमिक विकास से

संबद्ध रहता है। साकेत में इस तथ्य को चरितार्थ करने के हेतु कवि ने सफल प्रयास किया है। क्योंकि रामायण में कथा की सभी घटनाएँ राम से संबद्ध हैं। जिस कौशल से कवि ने इस कार्य को किया है वह इनकी प्रबन्ध-पटुता का द्योतक है। 'साकेत' में प्रत्येक घटना 'उर्मिला' अर्थात् मुख्य पात्र से सम्बधित है। उर्मिला विरह ही उसकी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। उर्मिला लक्ष्मण मिलन और लक्ष्मण शक्ती, मेघनाथ रावण वध आदि घटनाऐं अनुषङ्गिक रूप में उसके संपादन में सहायक होती हैं। वस्तुतः यह घटना-प्रधान महाकाव्य नहीं है, इसमें चरित्र की प्रधानता है और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन ही इसका प्राण है। इसीलिये कथा के घटित होने का क्षेत्र 'साकेत' ही रखा है, जहाँ 'रामायण' के उपेक्षित पात्र रहे हैं। और वनवास से लेकर लंका विजय तक की सारी कथा हनुमान जी द्वारा साकेत में ही कहला दी गई है और वशिष्ठ जी ने दिव्य-दृष्टि द्वारा सबको रावण-वध का दृश्य दिखला दिया है। इस घटना परिवर्तन के कारण हनुमान को भी संजीवनी बूटी लेने के लिए हिमालय तक नहीं जाना पड़ा है। भरत ने उन्हें वाण का निशाना बनाया था और फिर अपने पास से ही संजीवनी बूटी दिलाकर उसे जीवित किया था। उसी संजीवनी को लेकर हनुमान लंकापुरी में लक्ष्मण को जिलाने के लिये ले जाते हैं। इससे भरत और शत्रुघ्न की वीर मावना और उर्मिला की दुर्गामूर्ति का दर्शन हो गया। यह सब परिवर्तन मुख्य पात्र उर्मिला के चरित्र विकास पर वल देने के लिये किया गया है।

उर्मिला त्याग और अनुराग की साक्षात् प्रतिमा है। संपूर्ण 'साकेत-भवन' का निर्माण ही उर्मिला के आँसुओं से हुआ है। प्रारम्भ में गुप्तजी ने अपनी वाग्विदग्धता का परिचय देते हुए उर्मिला के जीवन में भावी वियोग की तीव्रता के लिये हास्य-विनोद का चरम रूप भी प्रकट कर दिया है। परन्तु उर्मिला और लक्ष्मण का यह हास्य विनोद चिरस्थायी नहीं, राम के वनवास से सब कुछ चिर रुदन में परिवर्तित हो जाता है। कैकेयी के भरत राज्याभिषेक और राम के वनवास सम्बन्धी वर-माँगने

से विपत्ति का ग्रास बनना तो चाहिए था राम को, परन्तु जैसा ऊँचा उनका व्यक्तित्व और आदर्श है, वैसे ही वह विपत्ति उनकी गोद में पुष्पवत गिरी। काल का ग्रास यदि बनीं, तो बेचारी उर्मिला। राम वन गमन के समय सीताजी ने तो फिर भी अपना भाग प्राप्त कर ही लिया था, परन्तु उर्मिला विवशता के पंजे में जकड़ी गई और लक्ष्मण के साथ वन भी न जा सकी:—

सीता ने अपना भाग लिया,
पर इसने वह भी त्याग दिया।
× × ×
मरण जीवन की यह संगिनी,
बन सकी वन की न विहंगिनी।

वही उर्मिला जो एक दिन स्वर्गीय सुख की भोक्ता बनी थी आज काल के ग्रास में त्याग की प्रतिमा बनकर ही रह गई। प्रिय के साथ जाने का आग्रह भी नहीं कर सकती क्योंकि राम को पथ में बाधा होगी। मन को ही धैर्य देती है, जिससे वह प्रिय के पथ का विघ्न न बन सके।—

कहा उर्मिला ने—हे मन!
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा।
है अनुराग विराग भरा।

परन्तु यह मूक त्याग उसे यावतजीवन रुलाता है। हनुमान द्वारा लंका की कथा सुनने पर कवि ने उर्मिला की दर्पाकृति का भी चित्रण किया है जो उसके आँसुओं में एक नवीन कान्ति उत्पन्न कर देता है। विरह तो रुदन में ही बीता, मिलन में भो वह अविरल अश्रु धारा सतत रूप से प्रिय के पाद-पद्मों की रज प्रक्षालन हेतु प्रवाहित रहती है।—

विरह रुदन में गया मिलन में भी मैं रोऊँ
मुझे और कुछ नहीं चाहिए पद रज धोऊँ।

इस प्रकार समस्त 'साकेत' में उर्मिला की अश्रु-सरिता ही प्रवाहित

होती है। कुछ आलोचकों का कहना है कि महाकाव्य की नायिका होते हुए भी उर्मिला का अतिरुदन उसे सामान्य नारी बना देता है, जिसका अभाव होना चाहिए। परन्तु गुप्त जी के युग में सामान्य ही लोकप्रिय और उपयोगी है। अतः उर्मिला का चरित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

'साकेत' महाकाव्य में दो प्रकार के पात्रों साधारण और आदर्श अथवा मानवीय और अमानवीय, का दिग्दर्शन होता है। साकेत में अमानवीय चरित्र राम है, क्योंकि कवि उनके गौरव और महत्ता से अभिभूत है, वरन् इस वैज्ञानिक युग के प्रतितिधि कवि के लिये अमानवीय चरित्रों के सृजन में विशेष आनन्द लाभ करना असम्भव सा प्रतीत होता है। राम के अतिरिक्त अन्य सभी पात्रों में देवत्व और दनुजत्व का असमान रूप से मिश्रण हुआ है। भरत देवत्व की साक्षात् प्रतिमा होते हुए भी दनुजत्व से बिलकुल अछूते नहीं हैं। कैकेयी का दनुजत्व कुछ क्षणों के लिये दूध की भाँति उफन पड़ता है परन्तु फिर वह मातृत्व के ममत्व पर आसीन होकर करुणमयी मूर्ति बन जाती है। रावण और मेघनाद दनुजत्व के अधिक निकट हैं, हाँ देवत्व की अंशरूप भावना उनमें भी पाई जाती है। रावण की सहृदयता पर एक बार राम भी विभोर हो जाते हैं। राम में तो दनुजत्व का सर्वथा अभाव है, हाँ मानवीय दुर्बलताएँ आंशिक रूप में भी पाई जाती हैं। उनमें मोह की भावना एक बार एकदम प्रवल हो उठती हैं—

आता है जी में तात यही
पीछे पिछले व्यवधान मही
झट लोटूँ चरणों में आकर।

परन्तु उस मोह पर विजय प्राप्त करने को शक्ति भी उसमें थी--वह है धर्म—

पर धर्म रोकता है वन में

इसीलिये तो वे मानवता से ऊपर देवत्व का रूप पा लेते हैं। और अधिनायक के पद पर अधिष्ठित होते हैं। गुप्त जी के राम वस्तुतः

ईश्वर है और लीला के उद्देश्य से अथवा भूतल को स्वर्ग बनाने के हेतु अवतीर्ण हुए हैं:—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है।
अथवा— ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

संसार का कल्याण ही उनका उद्देश्य है, इसी से तो संसार में शान्ति के हेतु वे क्रान्ति मचाने आये हैं। वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। इसीलिये जीवन के प्रवाह में मर्यादा का बाँध बाँधते हैं:—

जितने जीवन प्रवाह हैं बहें अवश्य बहें वे
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।

अतः वे आदर्श की प्रतिमा हैं, पितृप्रेम अपूर्व है, उनका मातृप्रेम और भ्रातृप्रेम और पत्नीप्रेम उच्चकोटि का है। वे एक ओर महान् योद्धा हैं और दूसरी ओर प्रेम की आदर्श प्रतिमा हैं। वे कमल से भी कोमल और कुलिश से भी कठोर हैं।

राम के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र मानवी हैं। मानव पात्रों में भी संस्कार और परिस्थिति संबंधी एक भेद पाया जाता है। इस जगतवेदी पर कुछ पात्र सीखे सिखाये उतरते हैं, और कुछ यहाँ उतरकर सीखते हैं। कुछ पात्रों में संस्कार का प्राधान्य होता है कुछ में संस्कृति का। संस्कार प्रधान पात्र परिस्थिति द्वारा प्रभावित नहीं होते उनकी बुद्धि पहले से ही गढ़ी रहती है। अतः उनके चरित्र में विकास की कोई गुंजायश नहीं होती। साकेत के भरत, सीता, कौशल्या, माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा पात्र इसी कोटि के हैं। प्रत्येक परिस्थिति में इन पात्रों का व्यक्तित्व ज्यों का त्यों रहता है। उदाहरणार्थ साकेत की सुमित्रा के व्यक्तित्व का जैसा कठोर परिचय राम-वन-गमन के अवसर पर दिखाई देता है, वैसा ही लक्ष्मण-शक्ति के दृश्य को देखकर भी। उनके स्वर में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार माण्डवी के चरित्र में केवल एक रेखा है। कौशल्या भी सर्वत्र उदारता और भोली वात्सल्य भावना की प्रतिमा

दिखाई देती है। प्रत्येक परिस्थिति में उनका यही रूप दिखाई देता है—

मेरा राम न बन जावे यहीं कहीं रहने पावे।

और— हाय गये सो गये रह गये सो रह जावें।

जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें जब जावें।

में तनिक भी अन्तर नहीं है।

दूसरे प्रकार के पात्र वे हैं जिनके संस्कार इतने प्रवल और दृढ़ नहीं हैं, जिन पर परिस्थिति का प्रभाव न पड़ सके। परिस्थितियों के उत्थान और पतन में उनके चरित्र का विकास होता है। उर्मिला, लक्ष्मण और कैकेयी ऐसे ही हात्र हैं जो परिस्थितियों के वशीभूत होकर जीवन की सीढ़ी पर चढ़ते और उतरते हैं। परिस्थिति के अनुसार ही उनका व्यक्तित्व-परिवर्तन होता है। उर्मिला परिस्थिति के घात प्रति-घात द्वारा ही स्वर्ग का सुमन बनकर असमय में ही मुर्झा जाती है। उसकी त्याग-वृत्ति धीरे-धीरे परिस्थितियों पर विजय पाकर आदर्श की ओर बढ़ती है। उसका आत्मत्याग का आदर्श उसे संस्कार रूप में प्राप्त नहीं होता वरन् वह धीरे-धीरे विकसित होता है। प्रथम सीढ़ी में तो वह इस आत्म त्याग की भावना को विवशता से ग्रहण करती है परन्तु बाद में वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़कर अन्त में लक्ष्मण के दर्शन पाकर फिर अपने नारीत्व भाव को जागृत करती है।

इसी प्रकार कैकेयी के चरित्र का विकास भी परिस्थितियों की अधीनता में रहकर होता है। मंथरा उसके लिये परिस्थिति का बीजारोपण करती है, मंथरा उसे माया जाल में फँसा कर ईर्ष्या की अग्नि उसके मन में प्रज्ज्वलित कर राम के प्रति विरोधी भावना उत्पन्न करना चाहती है। कैकेयी पहले पहल उसका विरोध करने पर भी उसके वशीभूत हो जाती है और कुचक्र की चालें चलती है परन्तु दशरथ की इसी कारण से ही मृत्यु हो जाने पर फिर उसकी परिस्थिति परिवर्तित हो जाती है और रानी का संस्कार पुनः प्रवल होने लगता है :—

रोना उसका उपहास हुआ,

निज कृत वैधव्य विकास हुआ,

रूप नहीं हैं, प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। राम, सीता, उर्मिला लक्ष्मण, भरत, कैकेयी आदि का व्यक्तित्व तो स्पष्ट ही है, साथ ही माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा, हनुमान, विभीषण आदि की भी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। माण्डवी का चरित्र तो अत्यन्त स्पष्ट है। उसके चरित्र की रेखाएं भी पूर्णतः पुष्ट हैं। अन्तिम सर्ग में भरत और शत्रुघ्न का व्यक्तित्व भी स्पष्ट हो जाता है। माण्डवी, उर्मिला और सीता यद्यपि तीनों बहनें हैं तथापि तीनों के व्यक्तित्व में कितना अन्तर है। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यक्तित्व से पूर्ण यह पात्र जीवन से ओत-प्रोत हैं। सजीवता और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ-साथ स्वाभाविकता भी है। पात्रों में असमानताएँ तो हैं जो हृदय में विस्मय, श्रद्धा और कुछ भय का उद्रेक करती हैं परन्तु अस्वाभाविकता कहीं नहीं है। उर्मिला और भरत जैसे मनुष्य भी लोक- जीवन में मिल सकते हैं, क्योंकि कवि ने चरित्र का सांगोपांग चित्रण किया है। मानव के शुभ-अशुभ दोनों पक्षों पर प्रभाव डाला है। गुप्तजी की कैकेयी में दोनों पहलुओं का सामंजस्य दिखाई देता है। इससे स्पष्ट होता है कि कवि मनोविज्ञान-वेत्ता भी है। मानसिक संघर्षों और हृदय की उलझनमयी अर्न्तवृत्तियों को गुप्तजी की सूक्षम दृष्टि ने बड़े कौशल से देखा है।

प्रबन्ध काव्यकार भी उपन्यास लेखक की भाँति साहित्य क्षेत्र में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करता है। जिस प्रकार उपन्यासकार को चरित्र चित्रण में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में चित्रण करने की स्वतंत्रता रहती है वैसी ही प्रबन्ध काव्यकार को। वह स्वयं अपनी ओर से पात्रों के विषय में सम्मति भी दे सकता है और पात्र को दर्शक अथवा पाठक के सम्मुख वह कार्य करते अथवा सुनते दिखा देता है, जिससे पाठक को भी पात्र के विषय में उचित धारणा हो सके। प्रथम रूप में वह स्वयं वक्ता बनता है और दूसरे रूप में पात्र के क्रिया कलाप ही प्रत्यक्ष होते हैं। वस्तुतः सजीवता की दृष्टि से दूसरा रूप ही उत्तम है। गुप्तजी ने साकेत में गीत, नाटक और प्रबन्ध तीनों तत्त्वों का समिश्रण

किया है । अतः कवि ने विवरणात्मक और अभिनयात्मक दोनों प्रणालियों को अपनाया है । परन्तु फिर भी विवरण की उपयोगिता कवि ने बहुत कम की है । पात्र के विषय में स्वयं एकाध वाक्य ही कहा है। उस वाक्य में पात्र के चरित्र के बीज का अस्तित्व तो रहता ही है जो कार्य व्यापार, कथोपकथन आदि उपकरणों द्वारा चरितार्थ होता चलता है । कौशल्या और सुमित्रा के विषय में कवि ने केवल इतना ही कहा है । कौशल्या को 'मूर्तिमती, ममता, माया' और सुमित्रा को 'सिंही सदृश्य क्षत्रियाणी' । दोनों की ये भिन्न भिन्न विशेषताएँ भिन्न अवसरों और परिस्थितियों में चरितार्थ होती रहती हैं । कौशल्या के एक शब्द में ममता की प्रेरणा और सुमित्रा की प्रत्येक क्रिया में क्षत्रियत्व उद्‌बुद्ध होता रहता है । लक्ष्मण का परिचय कवि ने इस प्रकार दिया है—

शौर्य सह सम्पत्ति लक्ष्मण-उर्मिला

लक्ष्मण की यही शूर वीरता आगे चलकर अभिनयात्मक रूप में पल्लवित दिखाई देती है । वनवास के समय उनका क्रोध, भरत-आगमन के समय में उनके प्रति कथित शब्दों में क्षोभ, जनकपुर में उनका दर्प, सीता के कटु वाक्यों का उत्तर आदि प्रत्येक क्रिया कलाप उनकी शूर वीरता के द्योतक हैं ।

गुप्त जी ने 'साकेत' के चरित्र चित्रण में अभिनयात्मक प्रणाली का भी प्रयोग किया है । जिससे वे उसमें पूर्णतः सफल हो सके हैं । अभिनयात्मक प्रणाली की सफलता इसी में है कि पात्र जो सोचे, जो कहे और जो करे, एवं जो दूसरे उसके विषय में कहें, उनमें पूर्ण सामंजस्य हो । साकेत का चरित्र-चित्रण इस कसौटी पर कसने से पूर्ण सफल हुआ है । अभिनय की एक अन्य प्रवृत्ति का प्रयोग भी कवि ने किया है वह यह है कि उसके पात्र सदा दो-दो करके सामने आते हैं । यह प्राचीन नाटकों का एक प्रयोग है । प्रथम सर्ग में उर्मिला लक्ष्मण हैं, दूसरे में कैकेयी और मंथरा, तीसरे में राम और लक्ष्मण, इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में पात्रों का दो-दो रूप में आना ही हुआ है । इससे कथोपकथन का विशेष अवसर प्राप्त होने से चरित्र-चित्रण में सुविधा

हो गई है । इस प्रकार दोनों पात्रों साम्य अथवा वैषम्य के द्वारा उनकी चरित्रगत विशेषताओं का मान होता है। दोनों पात्र एक दूसरे के लिये पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं। वैषम्य और साम्य का यह उपयोग साकेत में बड़ी सफलता से किया गया है। राम और लक्ष्मण दोनों परस्पर भाई हैं परन्तु दोनों की विशेषताएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं— राम की क्षमाशीलता लक्ष्मण की असह्य वृति के द्वारा स्पष्ट होती है। और लक्ष्मण का चापल्य, वीरता और दर्प राम की गम्भीरता की छाया में प्रकाशित होता है। दशरथ और कौशल्या में, भरत और राम में, शत्रुघ्न और लक्ष्मण एवं सीता और कौशल्या में पाया जाता है।

गुप्तजी ने अपने महाकाव्य के पात्रों की उद्‌भावना भी नवीन रूप में की है। बाल्मीकि, तुलसी और अन्य कवियों के पात्रों के चरित्र-चित्रण का कवि ने केवल आश्रय मात्र ही लिया है। वैसे तो कवि के सभी पात्र मौलिक रूप में उद्‌भासित हैं। उर्मिला और माण्डवी तो उन्हीं की ही सृष्टि है, अन्य पात्रों में भी उन्होंने मौलिक विचारों का समावेश करके नवीनता का संचार किया है। उनके लक्ष्मण, दशरथ और कैकेयी तुलसी और बाल्मीक के लक्ष्मण, दशरथ और कैकेयी से सर्वथा भिन्न हैं। 'मानस' की कैकेयी तो 'साकेत' में आकर बिल्कुल परिवर्तित हो गई है। साकेत के चित्रकूट प्रसंग में उसका ग्लानिमय हृदय पश्चाताप के आँसुओं से धुलकर सर्वथा स्वच्छ और निर्मल हो गया है। इसी प्रकार अन्य में भी कहीं-कहीं परिवर्तन और मौलिकता का सन्देश मिलता है। इस प्रकार 'साकेत' का चरित्र-चित्रण 'मानस' के चरित्र-चित्रण से कुछ कम सफल नहीं हुआ है। 'साकेत' के पात्रों का मनोवैज्ञानिक आधार अधिक पुष्ट है। साथ ही साकेत के पात्र अधिक सजीव हैं। उसमें उपेक्षित पात्रों को भी महत्ता के प्रकाश में लाया गया है। उसमें असाधारणता है परन्तु अस्वाभाविकता नहीं। असाधारण गुणागार होते हुए भी उनके पात्र मनुष्य ही हैं, अतः उनकी लोक-जीवन से अधिक निकटता है। उर्मिला के चित्रण में तो कलाकार की तूलिका ने रंग भर दिया है। कैकेयी के चित्रण में उनके सूक्ष्म कला-विलास के

दर्शन होते हैं—और मांडवी की सृष्टि तो मानों कवि की चरित्र-चित्रण की शक्ति से स्वयमेव ही हो गई हो। साकेत की यह तीन अमर सृष्टियां सृष्टि के स्मृति-पटल पर सतत रूप से अङ्कित रहेंगी।

प्रश्न ४—साकेत में चित्रित उर्मिला का चरित्र-चित्रण कीजिये।

उत्तर—काव्य-यज्ञशाला में अपनी अस्थियों की आहुतियाँ देने वाली किन्तु फिर भी साहित्य के समाहृत क्षेत्र में उपेक्षित और अनाहृत अव्यक्त वेदना की प्रतिमा नारियों ने कुछ वर्ष पूर्व रवीन्द्र के हृदय-उदधि में कुछ भाव-उर्मियों को उद्वेलित किया था। विश्व कवि ने मूक साधना की उन प्रतिमाओं के प्रति जिनके लिये 'या निषाद प्रतिष्ठान्त्व-मगमः शास्वती समाः' का कथन करने वाले अमर कवि की गिरा भी मौन रहीं, 'काव्येर उपेक्षिता' निबन्ध की रचना करके उनके प्रति अपनी श्रद्धाँजली का उपहार प्रदान करते हुए रवि बाबू की वाग्धारा इस रूप में प्रवाहित हो चली—,'हाय अव्यक्त वेदना भेदी उर्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु शिखर पर हुआ था। तदुपरान्त अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल यह प्रश्न करना भी लोग भूल गए।" उन दिनों द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य के आहत अंगों पर करुण फफोलों पर पट्टियाँ बाँध रहे थे। करुणा की प्रतिमा उर्मिला के प्रति इस उपेक्षा भाव की मर्मस्पर्शी पुकार उनके हृदय को तो छू ही गई साथ ही हृदय में एक तीव्र भाव का उद्रेक भी कर उठीं, जिसके फल-स्वरूप 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख को अपनी वरद्लेखनी द्वारा लिखकर उन्होंने मानों उपेक्षित और अनाहत आत्माओं के खोते हुए अश्रु-मुक्ताओं को अंकोरने का उपक्रम किया हो। उस समय गुप्तजी भी आचार्य के चरणों में बैठे हुए स्वर-संधान कर रहे थे। उर्मिला की इस अवांछनीय उपेक्षा ने उनकी प्रतिभा को भी उत्प्रेरित किया और 'साकेत' के रूप में उनकी हृदय-वाणी से करुण रागिनी फूट ही तो पड़ी। गुप्तजी की समस्त सहानुभूति करुण प्रतिमा

उर्मिला के साथ दूध पानी के रूप में ही घुल मिल गई। इस प्रकार साकेत-सृजन की प्रेरणा का पूर्ण श्रेय अवध की उर्मिला को है।

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन रस के लेप से।
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से।

गुप्तजी की अमर कृति 'साकेत' चरित्र-प्रधान काव्य है। काव्य की नायिका उर्मिला के चरित्र को कवि ने स्थान-विस्तार और सहानुभूति की दृष्टि से सर्वोपरि स्थान दिया है। अतएव उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता गया है। चरित्र-प्रधान ऐसे काव्य के लिये यह स्वतः ही वांछनीय है कि अन्य पात्र मुख्य पात्र के ऊपर घात-प्रतिघात द्वारा प्रकाश डालें। इस कसौटी पर साकेत का चरित्र चित्रण खरा उतरता है। साकेत के सभी पात्र उर्मिला के व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संबन्धित हैं। लक्ष्मण का जीवन तो उसके जीवन से छाया प्रकाश की भाँति सम्बद्ध है--उसकी निर्भय वीर वृत्ति का भी उसके चरित्र विकास से विशेष सम्बन्ध है। लक्ष्मण, राम, सीता, भरत और कैकेयी पृष्ठभूमि के रूप में उसके लिये परिस्थिति का बीजारोपण करते हैं और कभी अपनी परिस्थिति का उसके चरित्र विकास पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार उदयाचल गिरि से निःसृत, अनेक घाटियों का काँटते-छाँटते हुए प्रवाहित होते हुए निर्झर की नाईं उर्मिला का चरित्र विभिन्न पात्रों को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है।

उर्मिला के चरित्र चित्रण में गुप्तजी का अक्षर-अक्षर अनुप्राणित हो उठा है। कवि की सहानुभूति के और काव्य के विस्तार के सर्व-प्रमुख भाग की भोगिनी उर्मिला ही बन सकी है। 'कोणस्थ उर्मिला रेखा' का भीगा आँचल समस्त कथावस्तु के ऊपर प्रकाश की भाँति छाया हुआ है। साकेत के रंगमंच पर यवनिका के उठते ही उर्मिला राजवधू और प्रेमिका के रूप में सविलास स्मित रेखा लिये हुए सौमित्र सहित मधुर वागविनोद में संलग्न दिखाई देती है। उनका यह सुमधुर हास विलास और दो अमर प्रेमियों का प्रेम हिन्दी साहित्य में गीतातीत है,

मौलिक और सर्वथा निर्दोष है। परन्तु उर्मिला की हर्ष विभोर झाँकी क्षणिक ही दिखाई देती है। घटनाओं की घटा अकस्मात ही घिर उठती है और उर्मिला की सुख की झाँकियाँ अब दुःखों की घाटियाँ वन जाती हैं। द्वितीय सर्ग में कुमति मंथरा 'भरत से सुत पर भी सन्देह' कहकर कैकेयी को दशरथ से वर-याचना के लिये उत्प्रेरित करती है। बस यहीं से मंथरा कीं कुचक्र की चालें प्रारम्भ होने लगती हैं, जिसके साथ-साथ सुखों के रहस्य की ओट में दुख के मेघ उर्मिला के ऊपर घने से घने होने लगते हैं। मंथरा के कुचक्र के कारण श्री रामचन्द्र जी का राज्याभिषेक जिस प्रकार होते-होते रुक गया, उसके कठोर और कटु परिणाम के भोक्ता बनते तो राम, किन्तु जैसा ऊँचा उनका व्यक्तित्व और आदर्श था, यह अप्रिय आघात उनकी गोद में पुष्पवत गिरा। सीताजी ने तो वन के प्रत्येक भय अथवा कष्ट को असार और व्यर्थ समझा क्योंकि सतियों के लिये पति के संग में अगम भी सुगम हो जाता है।

> "मेरी यही महामति—पति ही पत्नी की गति है।
>
> × × × ×
>
> नाथ ! न भय दो तुम हमको, जीत चुकीं हैं हम यम को
> सतियों को पति-संग कहीं अगम गहन क्या दहन नहीं।"

इसलिये राम को निरुत्तर हो सीता जी को अपनी सहगामिनी बनाना ही पड़ा। अब उनके लिये तो कोई चिन्ता का विषय था ही नहीं। लक्ष्मण जी भी राम को अपने मान्य आदर्श की प्रतिमा समझते थे। अपने पिता के समक्ष जो क्रोधोद्‌गार प्रकट किये गए थे उनमें राम के अधिकार की गर्जनापूर्ण घोषणा ही थी। जब राम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ हो गए तब लक्ष्मण उनका साथ क्यों न देते ? इसलिये उनके लिये भी कोई अवाँछनीय परिणाम उपस्थित न हुआ। यदि कुचक्रों की भंवर में फँसी तो बेचारी उर्मिला, जो न तो लक्ष्मण की साधना में बाधा डाल सकती थी और न ही संग-गमन के लिये आग्रह ही कर सकती थी। इस शोचनीय परिस्थिति से जनित विषाद ही वह रीढ़ की

हड्डी है, जिस पर समस्त साकेत की अस्थि अवलम्बित हैं । प्रथम सर्ग के पश्चात् वह मुस्काती हुई सी उर्मिला चतुर्थ सर्ग में करुण वीणा-वादन करती हुई सी दिखाई देती है । कवि भी विषाद-वर्णन के हेतु पार्श्वभूमि का निर्माण करता है । इसी समय वन-गमन की तैयारियाँ होती हैं । वस्तुतः यही तो वियोग से अधिक दारुण वियोग का अवसर होता है । सचमुच ही उर्मिला की अग्नि-परीक्षा का समय आ जाता है । इसीलिये तो प्रवत्स्यपतिका का चित्र प्रोषितपतिका से अधिक मार्मिक एवं मर्मस्पर्शी होता है । पाषाणवत् हृदय भी उस भावी विरहणी की तापित दशा को देखकर सिहर उठता है । निठुर विधि ने तो 'विरह' !! इस शब्द को कराहते हुए अश्रु मसि से लिखा है, जिसका नाम सुनते ही मानव की हृत-तन्त्रियाँ विकम्पित हो उठती हैं । प्रिय के प्रयाण के समय चिन्ता, काम, आशंका, मोह, निरवलम्बता, एकाकीपन का भाव आदि न जाने कितने भाब उद्दीप्त होते हैं, हृदय की अकथनीय दशा होती है । आज उर्मिला भी प्रवत्स्यतपतिका हैं । प्रिय उसको इस भय से "प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे' यहीं पर रहने का आदेश देते हैं :—

> "रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो ।
> यह भी मेरे लिये सहो
> और अधिक क्या कहूँ, कहो ?"

अब उर्मिला का क्या आग्रह था कि वह संग जाने के लिये कहती । विवशता के वशीभूत होकर हृदय की चाह को त्याग ही तो दिया । मानव के मांसल हृदय को उसने देवता का प्रस्तर हृदय बना लिया और वर-वदन प्रस्फुटित कर ही उठा :—

हे मन !

> तू प्रिय पथ का विघ्न न बन !
> आज स्वार्थ है त्याग भरा ।
> हो अनुराग विराग भरा ।

उसके हृदय में ईर्ष्या की भावना लेषमात्र भी नहीं होती परन्तु परिस्थिति उसको विवश कर देती है । सीता वल्कल लेने के हेतु राम को विवाद में यह कहकर परास्त कर देती है :—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ
मेरी यही महामति है,
पति ही पत्नी की गति है।

राम को निरुत्तर हो स्वीकृति देनी पड़ती है । सीता की ये तर्क-वितर्कमयी घातें उर्मिला की स्थिति को और भी गहनतर बना देती हैं। हृदय में विरोधी भावों की एक आँधी सी ऊधम मचाती है । दुःख-भार से वह दीन मुग्ध होकर 'कह कर हाय, धड़ाम गिरी ।' उर्मिला की इस आकुल अवस्था को देखकर लक्ष्मण और सीता भय से शंकित हो उठते हैं। सीताजी व्यंजन डुलाती हुई उसकी और अपनी स्थिति का अन्तर समझती हुई कह उठती हैं :—

आज भाग्य है जो मेरा
वह भी हुआ न हा! तेरा

यदि ये ही शब्द किसी अवस्था में उर्मिला के मुख से निःसृत होते तो इससे उसके हृदय के ईर्ष्या भाव और कुवृत्ति का भान होता । इसी से कवि ने अपने काव्य-कला-कौशल से राम और सीता के द्वारा उसका संकेत कराया है। इसी में नायिका की गौरव-गरिमा और महत्ता का संरक्षण हो सका है।

भावी में जो होना था सो हो गया । लक्ष्मण वियोग-जयी होकर चले गए और उर्मिला एकाँकी प्रेममयी प्रतिमावत् बन रह गई । नवयौवन की सरसता में ही यति का वेश टूट पड़ा और दोनों को विश्लेष होना पड़ा। अब तो पुष्पवत हृदय पर अवधि रूप भारी शिला का भार पड़ गया था जिसको तिल तिल काट रही थी दृग जल धार । नवनीत पुतली पर विपत्ति का पहाड़ आ गिरा। विधि की विडम्बना से अब वह कैसे सुरक्षित रहता केवल कंकाल मात्र ही देखने को बच रहा :—

मुख कांति पड़ी पीली पीली
आखें अशान्त नीली नीली।

अब तो विधि के प्रमाद से सखियों का विनोद भी विषाद रूप प्रतीत होता है। वियोग की दशा में एक एक पल वर्ष के समान प्रतीत होता। सखियाँ यथासाध्य आशा के दीपक जलाती हैं। अवश्य राम सीता सहित लक्ष्मण आजकल में ही आ जायेंगे। इस पर विरहिणी के ओठों पर एक विशादमयी रेखा खिंच जाती है और वह कह उठती है:—

'अब गया हाय! आशा न गई
× × ×
लौटेंगे क्या प्रभु और बहन
उनके पीछे हा दुःख-दहन!'

विरह तत्त्व ज्ञाता जान गए कि इन शब्दों में कितना विश्वास और विश्वास में कितनी निराशा और उस निराशा में कितना गर्व था।

चित्रकूट में पुनः सीताजी के चातुर्य से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। उस मिलन में भी विस्मय, आश्चर्य, करुणा और प्रेमोत्कर्ष की भावनाएँ क्रमिक विकास से उद्भासित होती हैं। उर्मिला वियोग में इतनी कृशगात हो जाती हैं कि लक्ष्मण चित्रकूट में उसे देखते ही आश्चर्यचकित हुए अवाक और स्तब्ध से भ्रमित हुए खड़े रहते हैं। उन्हें यह भ्रम विस्मय में डाल देता है कि वस्तुतः यह प्रतिमा उर्मिला ही है अथवा उसकी छाया। अनुराग और कर्त्तव्य की भावना से परिपूर्ण उर्मिला प्रिय की इस दशा को देखकर पुकार उठती है:—

"मेरे उपवन के हरिण आज बनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय-भारी॥"

उसके उपवन का हरिण आज बनचारी होगया कदाचित उपवन में आने से डरता होगा कि पुनः न बन्धन-पाश में बाँध लिया जाऊँ। परंतु कर्तव्य भावना से अनुप्राणित उर्मिला विश्वास दिलाती है कि "मैंने अपनी इच्छानुसार ही तुम्हें छोड़ा है, पुनः न बाँध सकूँगी।" इन शब्दों को

प्रिया-बदन से श्रवरणेन्द्रिय में परिपूरित करते ही लक्षमरण के हृदय में कैसा तूफान उठा-वह शब्दातीत है—अतः

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में ।

वह आवेश के साथ आवेश का मिलन था-दो हृदयों के अथाह सागर का प्रगाढ़ मिलन और उस मिलन में संसार लय होगया । उर्मिला के त्याग के समक्ष लक्ष्मरण संकोच से सिमट से गये । बात रखने के लिये सफ़ाई के कुछ शब्द कहने ही पड़ेः—

'वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य
भाभी की भगनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।'

प्रिया उर्मिला का कण्ठ प्रिय के वचन सुनकर गद्‌गद् भाव से अवरुद्ध हो उठता है । अनेक भावनाओं का संघर्ष मन में होता है कुछ मुख से तो निकल पाता नहीं, बस इतना ही कह पाती है—

'हा स्वामी कितना कहना था कह न सकी कर्मों का दोष
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष ।'

वास्तव में चित्रकूट का यह उर्मिला और लक्ष्मरण का मिलन साकेत की एक आदर्श घटना है जिसमें विवश बिषाद, आवेगपूर्ण अनुराग तथा दृढ़ कर्त्तव्य भावना की त्रिवेणी का समागम है ।

तदुपरान्त उर्मिला प्रोषित पतिका बन जाती है, उसका वियोगिनी का रूप विकसित होता है । साकेत का सम्पूर्ण नवम सर्ग मानों उर्मिला के करुण आँसुओं से ही लिखा गया हो । कभी वह उन्मादिनी बन पशु-पक्षियों से भी संवेदना प्रकट करने लगती है और कभी अपनी नैराश्यपूर्ण जीवनगाथा पर करुण हो उठती है । नवम् सर्ग में कवि ने जो विरहिणी उर्मिला के विरोहद्‌गारों का परिचय दिया है उनमें कवि की मनोवैज्ञानिक कला का सुन्दर दिग्दर्शन होता है । इसी विरह में एक बार कामदेव उर्मिला की परीक्षा लेने आता है, किन्तु महाव्रता सिंहनी की भाँति वह चिंघाड़ उठती हैः—

बल तो है सिन्दूर बिन्दु यह हर नेत्र निहारो।

वह केवल प्रणय की पुण्य प्रतिमा ही नहीं वीरत्व की साक्षात् देवी भी है। गुप्तजी ने उर्मिला के शौर्य और धैर्य का संकेत करने के हेतु अपनी सूक्ष्म तूलिका द्वारा एक चित्र का चित्रण किया है। चित्रकूट संबंधी-मिलन के पश्चात् जब उर्मिला ने समाचार पाया कि उसके प्रणय-सेवी लंका युद्ध में शक्ति के आघात से संज्ञाहीन ही नहीं मरणासन्न हो गये हैं, उसने अपना सम्पूर्ण वियोग काल कातर करुणा-जनक रोदन में व्यतीत तो किया ही, इसके साथ ही वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं बन गई; वह सेनानायक के रूप में सेना के आगे-आगे लंकापुरी की ओर चलने को सनद्ध हो गई। इस समय उसके वीरत्व की कितनी अद्‌भुत शोभा थी यह कवि की ही सुन्दर शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त है :—

> "आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी।
> प्रकट हुई ज्यों कार्त्तिकेय के निकट भवानी।
> जटा जाल से बाल बिलम्बित छूट पड़े थे।
> आनन पर सौ अरुण घटा में फूट पड़े थे।
> माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था।
> प्रथमातप-सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था।
> बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ निकट था।
> दाएँ कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।"

उर्मिला का यह कितना तेजस्वी रूप है, जिसमें गुप्त की कुशल कला की अभिव्यक्ति का आभास होता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि राम का विषाद परोपकार-भावना की जिस धुरी पर अवलम्बित है, उस सत्य-शाखा पर उर्मिला का नहीं। उसमें उसका व्यक्तिगत स्वार्थ है, विश्ववेदना की तड़प नहीं। वस्तुतः उर्मिला का रोना स्वार्थ को लेकर नहीं चलता। इस निराधार कल्पना के बल पर ही उस पुण्य उपादेय आत्मा का निरादर कर यह कहने से कि उसमें विश्व-अनुभूति नहीं और प्रकाश-स्तूप सी प्रकट उपादेयता

नहीं उसका रूप वस्तुतः क्षुब्ध नहीं हो जाता। उर्मिला घर में जलाए गए उस आशापूत दिव्य दीप की शिखा की भाँति प्रज्ज्वलित है जो दूर-देशगामी पुरुषों को प्रकाश प्रदान करने की कामना का प्रतीक है। उर्मिला का दीपक गुप्तजी के जालीदार झरोखे में प्रकाशमान है, प्रसाद जी के आकाशदीप की भाँति आकाश में नहीं टँगा, न उसे प्रकाश-स्तूप ही उन्होंने बनाया है। विद्युत के व्याप्त अप्रत्यक्ष रूप की भाँति उर्मिला में एक अनिर्वचनीय ज्योति व्याप्त है जो उससे कहीं अधिक शक्तिशील और संजीवन-प्रदायनी है। उसमें विश्व-प्रेम की घोषणा नहीं व्याप्ति है और वह व्याधि एक अत्यन्त दृढ़ आधार पर है। इसी में तो लक्ष्मण की सम्पूर्ण ओजस्विता का रहस्य है। उसका अनुराग लोक-कल्याण का बाधक नहीं, उसकी तो यही इच्छा है कि :—

भ्रातृ-स्नेह-सुधा-बरसे—
भू पर स्वर्ग भाव सरसे

उसको तो केवल इसी का दुःख कि—

यदि स्वामी संगिनी रह न सकी
तो क्यों इतना भी कह न सकी
यह भ्रातृ स्नेह न ऊना हो
लोगों के लिये नमूना हो।

यहाँ तक कि विक्षिप्त अवस्था में भी वह कर्त्तव्य परायण ही रहती है। प्रिय की अवधि-सुध में बेसुध होकर वह प्रिय-आगमन पर हर्षातिरेक की उदधि में डुबकियाँ लगाने लगती है किन्तु कभी सोते हुए भी बीच में से उठकर प्रभु को वापस लौट जाने के लिये उत्प्रेरित करती है। यह सब उसकी कर्त्तव्य-भावना के बल पर ही तो होता है। सोने पर भी इतना त्याग जागने पर भी इतना अनुराग। वस्तुतः सीता ने उसका चित्र अपनी तूलिका द्वारा यथातथ्य ही आँका है—

'आँसू नयनों में हँसी वदन पर बाँकी
कांटे समेटती फूल छींटती झाँकी।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया।

सीता ने तो वन में ही मन भाया राजभवन बनाया और उर्मिला ने राजभवन को ही तपस्विनी की उटज का रूप दिया। उमा ने अखंड तपस्या करके अचल सुहाग भरा दिन देखा था तो उर्मिला भी क्या उससे कम थी। उसने तो अपने अचल सुहाग को अखंड तपस्या बना दिया। चौदह वर्ष की अखंड तपस्या के पश्चात् जब उसने अपने देव के दर्शन पाये तो उसके ऐहिक जीवन की निधि तो रिक्त हो चुकी थी, निर्धनता ने अपनी स्वराज्य पताका के बल पर अधिकार कर लिया था, हाँ केवल दो अश्रु भरी आँखें ही! ये पानी में मछली सी आँखें ही मानों कहती हैं—

पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं
वह खोया धन आज कहाँ सीख पाऊँगी मैं?

उर्मिला का यौवन उसके पति के चरणों में समर्पित तो था ही, वह यौवन-निधि उसके पति की धरोहर स्वरूप थी। अतः उस धरोहर की क्षति के कारण उसको दुःख होना स्वाभाविक ही था।

चौंदह-वर्ष की दीर्घकालीन अवधि-शिला, जिसको उर्मिला ने दृग-जल की अविरल अश्रुधारा से तिल-तिल काटा था, अन्त में जब कट ही गई, तो इन दो बिछुड़े प्राणों की मिलन बेला में कवि भी हर्षातिरेक की चरम सीमा पर पहुँच गया और उसकी लेखनी भी मर्मस्पर्शी दृश्य को अङ्कित किये बिना न रह सकी—

लेकर मानों विश्व विरह उस अंतःपुर में
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में
नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया
'प्रिये-प्रिये' हाँ आज-आज ही वह दिन आया।

और स्वयं रामचन्द्र जी भी उर्मिला के कठिन तापस-जीवन से मुग्ध हो गये और प्रशंसा-सूचक वाग्धारा प्रवाहित कर उठे—

"तू ने तो सहधर्म चारिणी के भी ऊपर
धर्म संस्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू-पर।"

वस्तुतः वेदना, अतुलित अनुराग और कर्त्तव्य परायणता की त्रिवेणी प्रवाहिता उर्मिला सी प्रतिमा के चित्रित करने में गुप्तजी की प्रौढ़ लेखनी सफलता से अलंकृत हो उठी है।

———

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिये कि उर्मिला के विरह-वर्णन में यदि एक ओर प्राचीन शास्त्रकारों की छाप है तो दूसरी ओर नूतनता का समावेश भी स्वतः हो गया है।

उत्तर—विरह शब्द दैव की ही सृष्टि है। विधाता ने अश्रु-मसि से मानव के जीवन-पट पर कठोर शब्द को लिखा :—

> अहह ! कराहते इस शब्द को,
> निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !

इस संसार-प्रांगण में सुख और दुःख अथवा मिलन और विरह की आँखमिचौनी सदैव से ही खेली जा रही है और प्रत्येक प्राणी इस प्रांगण में प्रविष्ठ होकर इसका खिलाड़ी बनता है, भले ही वह दीर्घकाल के लिये उसमें अभिनय करता रहे अथवा उसका यह खेल क्षणिक ही क्यों न हो। 'संयोग' अथवा मिलन जीवन की वह अवस्था विशेष है जिसमें दो अभिन्न हृदय मिलते हैं और एक में एक के जुड़ने से दो की सम्भावना नहीं रहती, और जिसमें 'एक तन दुई गात' की गुंजाइश ही रह जाती है। 'विरह' जीवन की वह परिस्थिति विशेष है जिसमें प्रेमी जीवन का विश्लेष हो जाता है। जीवन के इन दो मार्गों में मानव मन विरह की करुणामयी घाटी का ही पथिक बनता है, क्योंकि दुःख के भाव जितना अधिक मर्मस्थल को स्पर्श करते हैं उतना सुखमय भाव नहीं। आदि कवि वाल्मीक भी क्रौंच-बध से शोकातुर हो उठे थे और उनके मानस से एक अन्तःप्रेरणा के द्वारा यह वाग्धारा प्रस्फुरित हो उठी थी :—

> "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
> यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काम मोहितम ॥"

इस प्रकार बधिक द्वारा जनित दयनीय दशा से कवि का हृदय कारुण्य भावों से उद्वेलित हो उठा और उसी के वशीभूत होकर ही जगती के सम्मुख शब्द-चित्रों को अपनी सूक्ष्म तूलिका द्वारा उपस्थित कर दिया। भवभूति ने भी नवरसों में करुण रस को ही प्रधानता दी है "एको रस करुणं एव स।" करुणामयी अभिव्यक्ति में गीतत्व और संगीततत्त्व की भावना निहित रहती हैं, जो अपनी तरल तरंगों से मानव-हृदय के तार-तार को झंकृत कर देती है। इसी से कवियों ने शृङ्गार के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग को ही अधिक महत्त्व दिया है। विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है अथवा वह प्रेम का अकलुष रूप है। वस्तुतः विरह सत्य प्रेम की कसौटी है, जिस पर प्रेम-स्वर्ण की परीक्षा होती है। विरह प्रेम का तप्त-स्वर्ण है, वेदना की अग्नि में तपकर प्रेम की मलिनता गल जाती है और जो कुछ शेष रह जाता है वह एकान्ततः स्वच्छ और निर्मल होता है। विरह में मिलन से अधिक गाम्भीर्य और स्थिरता होती है तथा प्रतीक्षा और अतृप्ति की उत्सुकता के कारण सहानुभूति की करुणामयी सरस धारा प्रवाहित होती है। अतएव प्रेम जहाँ वियोग में विस्तृत क्षेत्र पाता है वहाँ संयोग में संकीर्ण। यदि 'मिलन प्रेम का व्यय है और विरह उसका 'संचय' और यदि यह सत्य है कि "Love is loveliest when embalmed in tears" तो संस्कृत के एक प्राचीन कवि ने विरह की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए सत्य ही कहा है—

"सङ्गम विरहे विकल्पे वरमपि
विरहो न सङ्ग मस्तस्याः।
संगे सैव तथैका त्रिभुवन
मयी तन्मय विरहे॥"

संगम और विरह में विरह ही श्रेष्ठ है। संगम में प्रेम पात्र केवल एक ही रहता है; परन्तु विरह में तो वह त्रिभुवन के कण-कण में व्याप्त हो जाता है। वियोग में वेदना का वार्द्धक्य एक विशेष वृत्ति उत्पन्न कर देता है जो मीठी-मीठी कसक के साथ हृदय में रस की अनुभूति

करता है। वाणी के साहचर्य से वाह्य जगत् में जो वेदना फूट पड़ती है, वही तो सरस काव्य है। तभी तो प्रख्यात कवि सुमित्रानन्दन पन्त एक स्थल पर, कह उठते हैं—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान॥"

इसी से सहृदय कवियों ने आदि युग से ही वेदना और वियोग का आँचल पकड़ा और आज तक अपनी तूलिका द्वारा अपनी भावधारा को शब्द-चित्र पर अङ्कित करते आये हैं। उन्होंने मानव-हृदय की सामान्य भाव-भूमि पर विरह की ऐसी गंगा प्रवाहित की है, जिसकी धारा में हृदय का सारा कलुष धुल जाता है। प्रत्येक सहृदय भावुक कवि के मानस-मन्दिर में एक विरहिणी नारी समाहत है जो अपने दुःखों का गान सुनाया करती है। यह विरह की प्रतिमा अजर और अमर है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुन्तला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी की आत्मा में नागमती, सूर के प्राणों में राधा और मीरा के प्राणों में अरूप होकर रोई है। मैथिलीशरण के हृदय में उसी नारी ने उर्मिला का रूप प्राप्त किया है।

प्राचीन काल में जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द और ठाकुर वेदना के कुशल गायक थे। रीतिकालीन कवियों में तो विरह की वास्तविक पीड़ा पीड़ा न रहकर उपहास की वस्तु बन गई है। उसमें विरही आत्मा की कसक और वेदना का भान नहीं होता। आधुनिक युग में हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, महादेवी और बच्चन के गीतों में हृदय की तीव्र वेदना देखने को मिलती है। जायसी,सूर,हरिऔध और मैथिलीशरण के आदि प्रबन्ध काव्यकारों ने अपना हृदय नायिका के कण्ठ में उँडेल कर उसके आश्रय से विरह गान किया है। मीरा, प्रसाद, और महादेवी के दिव्य आलम्बन हैं जिन्होंने अपनी आत्मा की वियोग-पीड़ा को मुखरित किया है। घनानन्द, ठाकुर, आदि कवियों ने अपने लौकिक आलम्बन

पर आधृत रहकर व्यक्तिगत विरहगान किया है। परन्तु इस आश्रय और आलम्बन के भेदकत्व की दृष्टि से भी सभी कवि अन्त में शुद्ध भावना के धरातल पर पहुँचकर एक हो जाते हैं।

गुप्त जी की उर्मिला भी प्रोषित पतिका है और फिर उनके प्रेमी-जीवन का विश्लेषण तो नव-वय में ही हो गया था। वियोग की घड़ियों में उर्मिला के जो उच्छ्वास निसर्गित हुए हैं और उनके बड़े-बड़े नयनों ने जो अश्रु की अविरल धारा प्रवाहित की है, उससे न केवल उर्मिला का अंचल ही भीगा है वरन् सम्पूर्ण साकेत-पृष्ठ उसके संतप्त आँसुओं से गीले हैं। विरह की अधिकता का कारण यदि इस काव्य को 'विरह-काव्य' भी कहा जाता तो उसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

उर्मिला का वियोग उसके प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में प्रारंभ हो जाता है। वियोग का समय तो वियोग से भी अधिक दारुण होता है। प्रिय के प्रवास के समय चिंता, दुःख मोह काम निराश्रिता आदि न जाने कितने भाव उद्दीप्त होते हैं। उर्मिला भी प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में कोणस्थ आँचल भीगा कर रही है। उर्मिला-केवल उर्मिला ही ऐसी अभागिन है। उसमें ईर्ष्या का लेष मात्र भाव भी नहीं है, वरन् वह तो विवशता के पाश में बँधकर सव कुछ सह लेती है। वह तो त्याग और अनुराग की आदर्श प्रतिमा है। राम बनवास के समय सीता राम को यह कर कि—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ
मेरी यही महामति है
पति ही पत्नी की गति है

इससे राम को स्वीकृति देनी पड़ती है। सीता ने तो इस प्रकार अपना भाग ले लिया उर्मिला ने वह भी त्याग दिया। कर्त्तव्य की वेदी पर चढ़ कर उसने अपने को स्वामी के चरणों को बलिदान किया और मन को समझाया—

हे मन—

. . . .

तू प्रिय पथ का विघ्न न बन !
आज स्वार्थ है त्याग भरा
हो अनुराग विराग भरा।

परन्तु परिस्थिति की विषमता उसको परवश कर देती है। सीता के राम के प्रति वाङ्मय को सुनकर उर्मिला की भावना तीव्र हो उठी, और उस तीव्र भाव का अप्राकृतिक संकोच एवं दमन उसे 'मुग्ध' बना देता है और वह हाय कहकर धड़ाम से गिरी। उर्मिला के प्रिय-प्रवास का यह चित्र अत्यन्त करुण है। इस स्थल पर उर्मिला की विवशता और मर्यादा जनित स्वीकारिता इतनी करुण है कि वह तुलसी की भक्ति की गहराई का सबसे बड़ा प्रमाण है। उसकी वेदना और व्यथा के मर्म को सीता ने यथापूर्वक समझा और व्यंजन डुलाती हुई सत्य का प्रकाशन करती हुई बोली :—

आज भाग्य है जो मेरा,
वह भी हुआ न हाय ! तेरा !

इस प्रकार कवि ने दूसरों की आतुरता द्वारा उर्मिला के हृदय की आतुरता को स्पर्श किया है। यदि वे वाक्य उर्मिला के मुख से निसर्गित होते तो सम्भवतः उसका ईर्ष्या भाव व्यक्त होता। इसीलिए तो कवि ने उसको राम और सीता द्वारा कहलाया है जिससे उर्मिला की गौरव गरिमा की रक्षा हुई है। लक्ष्मण वियोग जयी होकर चले गये और उर्मिला प्रेममयी बनकर रह गई। नव-वय में ही उसका विश्लेष हो गया। यौवन की उमंग में ही यतिरूप विरह की बिजली कड़क पड़ी नवनीत की पुतली उस आघात को कैसे सहती। दुःख के पहाड़ों के गिरने के कारण अब केवल कंकाल मात्र ही रह गया :—

मुख कांति पड़ी पीली-पीली,
आँखें अशान्त नीली-नीली।
क्या हाय यही वह कृष काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया।

प्रिय के वियोग में विरह के तापस पुंज में जलती हुई उर्मिला को सखियाँ आश्वासन देती हैं कि प्रभु शीघ्र ही लौटेंगे, अतः अधिक विषादमयी बनने की आवश्यकता नहीं। सखियों की इन सहृदयता और सहानुभूति पूर्ण वाग्धारा को सुनकर उनकी होठों पर मुस्कान की एक विषादमयी रेखा दौड़ गई और उसकी वाणी भी यों मुखरित हो उठी—

"हाय सब कुछ गया! आशा न गई
× × ×
लौटेंगे क्या प्रभु और बहन
उनके पीछे हा दुःख-दहन;"

विरह ताप से संतप्त और वियोग-जयी लक्ष्मण का क्षणिक मिलन एक बार फिर चित्रकूट में सीता के लाघव से होता है। दो वियोगी हृदयों का यह मिलन गुप्तजी की नवीन कला से हुआ है। सीता उर्मिला की वेदना को जानती है, अतः वे लक्ष्मण को किसी बहाने से कुटीर में यह कह भेजती हैं—

"हे तात, तालसम्पुटक ततिक ले आना,
बहनों को बन-उपहार मुझे है देना।"

इस पर वे जैसे ही सीताजी की आज्ञा पाकर सूर्य-कर-निकर से सरोज-पुटी में प्रविष्ट हुए तो क्या देखा, वियोग में कृश होते-होते अब केवल उर्मिला रेखामात्र रह गई है। वे उसको देखकर स्तब्ध से, विमूढ़ से, जड़वत खड़े रह जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि वह उर्मिला ही है अथवा उसकी छाया मात्र। अन्तोगत्वा उर्मिला ही उनकी इस संशयात्मक वृत्ति को देखकर पुकार उठती है—

"मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।"

उसके उपवन का हरिण आज बन चारी हो चुका है—इसी से सम्भवतः उसको भय हो कि फिर कहीं उपवन में बाँध न लिया जाऊँ। इस पर यह विश्वास दिलाती हैं—नहीं, डरो नहीं, मैं अपनी इच्छा से

ही तुम्हें छोड़ा है, अतः पुनः न बाँधूगी । इन शब्दों को सुनकर लक्ष्मण का हृदय जिन संघर्षपूर्ण भावों के तूफान से उद्वेलित हो उठा, उसका वर्णन शब्दातीत है । अतः--

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग जल में

यह उद्वेग का उद्वेग के साथ और आवेश का आवेश से मिलन था । हृदय से हृदय जा मिला और उसी में समस्त संसार लय हो गया। उर्मिला की त्याग भरी दृष्टि के सामने लक्ष्मण संकुचित से हो रहे, उनका हृदय जानता था कि वह अपराधी है और उसने उसके साथ अन्याय किया है। मन ही मन लज्जित तो हो उठे परन्तु साथ ही कुछ सफाई देने का साहस भी किया और बोल उठे—

"वन में तनिक तपस्या बनने दो मुझको निज योग्य !
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य !"

उर्मिला भी विचलित हो उठी । प्रिय-मिलन से पूर्व उसने न जाने हृदय में क्या-क्या प्रिय को कहने के लिये ठान रखा था । परन्तु विधि की बिडम्बना ही विचित्र है कि इस समय भी वह प्रिय के समक्ष अपनी हृदय-निधि की कपाटों को अनावृत्त न कर सकी । निस्सहाय ही उसकी वाणी मुखरित हो उठी—

"हाँ स्वामी कितना कहना था, कह न सकी कर्मों का दोष,
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में सन्तोष !"

दो सन्तप्त हृदयों का बस यही क्षणिक मिलन था, जिसमें गुप्तजी ने बड़े ही कला कौशल से अनुभवों द्वारा ही मिलन सिद्धि की है। यहीं से उर्मिला प्रोषित पतिका बन जाती है और वेदना को ही अपने जीवन का श्रेय मानकर चलती है। क्योंकि वेदना प्रिय की पुण्य स्मृति का प्रमुख माध्यम बनकर आती है। बस यही प्रिय की पुण्य स्मृति उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य है और यही उसकी साध शेष रह गई है। तभी तो वह उसकी श्रेयता का गुणगान करती है—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपलखनी,
तुझे तभी छोड़ूं जब सजनी, पाऊँ प्राण धनी।

प्रेम-योगिनी उर्मिला के वियोगी रूप को गुप्तजी ने सहृदयता से अपनाया है और उसके वर्णन में गीतिमुक्तक शैली को प्रयुक्त किया है। और उर्मिला के विरहोद्गारों को चमत्कार रस आदि सभी सरस शैलियों द्वारा अभिव्यक्त किया है। साकेत का पूर्ण नवम् सर्ग तो उर्मिला के उच्छ्वासों और विरह के तप्त आँसुओं से आँधी और वर्षा के रूप में उद्वेलित हो उठा है। महात्मा गांधी को भले ही उर्मिला की विकलता अप्रिय हो, किन्तु गुप्तजी को तो इसी का गर्व है—

'करुणे क्यों रोती है ? उत्तर में और अधिक तू रोई—
मेरी विभूति है जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई'

गुप्तजी को तो भवभूति से होड़ लगी है, अन्तर तो इतना ही है कि 'उत्तर रामचरित' में सीता रोदन का विषय बनती है और साकेत में उर्मिला। नवम सर्ग के आरम्भ में ही कवि ने यह स्पष्ट किया है कि—

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।

प्रेमोपासिका उर्मिला अपने मनोमन्दिर में अपने आराध्य देव स्वामी को प्रतिष्ठापित करके आप ही आरती की ज्वाला बनकर जल रही है। कितने त्याग और विरह की पराकाष्ठा है। साकेत की उर्मिला जैसे त्याग और अनुराग की प्रतिमा है उसी प्रकार जायसी की नागमती भी विरहिणी की विरहोत्कण्ठा को और स्पष्ट कर देती है—

यह तन जारौ छारि कै, कहौ कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

महादेवी भी 'नीर भरी दुख की बदरी' बन सकती हैं, किन्तु अपने आराध्य देव के आराधन में स्वयं ही आरती बन कर भस्म हो जाना आत्म-त्याग की चरम-सीमा है। स्वामी-मनो-योगिनी विषम-वियोगिनी

उर्मिला क्रमशः आत्मज्ञान खो बैठती है और बेसुधी और अचेतनावस्था में वह जो प्रलाप करती है उसी का संग्रह है नवम सर्ग, सम्भवतः दशम सर्ग भी। अतीत स्मृतियों की एक वेदना भरी टीस, लुटा हुआ प्यार का संसार और उसकी वह चिन्तनीय अवस्था जिसमें न उसे 'वन' मिला और न 'भवन' ही—सभी उसकी उन्मत्तता में ईंधन के समान हो जाते हैं। प्रेम-पुष्प अभी मुकुलित ही न हो पाया था कि वह विरह की आँधी से विच्छिन्न होकर बिखर पड़ा। इस गूढ़ गम्भीर चिन्तन में वह सोच-सोचकर कुछ सहम सी जाती है कि—

> यह विषाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी
> जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ॥
> × × × ×
> पत्र पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुशल न मेरी तेरी
> जीवन के पले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ॥

जीवन की इस अस्तव्यस्तता के कारण अपनी काल्पनिक सखियाँ बनाती है और सुरभि से, गूंगी नदिया से, सारिका से, चातकी से और न जाने किस-किससे अपनी कारुण्य-कथा कहती है। इसी से उसका विरह समस्त विश्व में व्याप्त है। इसीलिये जिस प्रकार यशोधरा कहती है:—

> मैंने ही क्या सहा, सभी ने
> मेरी बाधा व्यथा सही।

उसी प्रकार उर्मिला भी बोल उठती है:—

> मेरी ही पृथिवी का पानी
> ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी !
> मेरी ही धरती का धूम
> बना आज आली, घनघूम
> गरज रहा गज-सा झुक-झूम
> ढाल रहा मदमानी
> मेरी ही पृथिवी का पानी

विरहिणी उर्मिला को विरह ताप से सन्तप्त देखकर मलयानिल भी सशंकित हो उठती है, उसे भय है कि कहीं वह उसके विरह-दग्ध शरीर से लग कर लू न बन जाय और अपने आप को जला न डाले। इस पर उर्मिला स्वयं ही उसको लौट जाने के लिये कह देती है—

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप॥

ऐसे स्थलों पर ऊहा का भय होते हुए भी कवि ने अपने कला-कौशल से उसको सँभाल लिया है। वस्तुतः उर्मिला का विरह जीवन से परे की कोई वस्तु नहीं है। उसका विरह नित्य प्रति के गार्हस्थ जीवन से ही संबद्ध है। न तो वह कुलकानि बेचकर प्रेयसी बनी है और न ही उसका उन्माद साधारण जीवन ही किसी प्रेम-योगिनी से प्रलयंकार ही है। हाँ, मिलने की आकांक्षा तो उसमें है परन्तु वह यह नहीं चाहती कि उसके प्रिय लक्ष्मण अपने धर्म अथवा उद्देश्य को छोड़कर चले आएँ। वह तो एक आदर्श विरहिणी नायिका है, यदि प्रिय को स्वप्न में भी देखती है तो लौट जाने के लिये उत्प्रेरित करती है। मिलन की तीव्र अभिलाषा होने के कारण वह स्वयं भले ही लक्ष्मण के निकट पहुँचने की आकांक्षा करती है—

यही आती इस मन में,
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी बन में!

× × ×

बीच-बीच में मैं उन्हें देखलूँ मैं झुरमुट की ओट
जब वे निकल जाएँ तब लौटूँ उसी धूल में लोट।

विरहिणी का जीवन समय की शृङ्खलाओं से जकड़ा हुआ है। समय काटे नहीं कटता। प्रातःकाल होता है बड़ी कठिनाई से मध्यान्ह आता है, फिर सन्ध्या और रात तो कल्प ही हो जाती है। समय-शृङ्खला को काटने का कोई साधन नहीं, हो भी तो उसका उपभोग करने की क्षमता नहीं। वह कोई ऐसा साथी चाहती है जिससे उसका समय शीघ्र ही व्यतीत हो, क्योंकि प्रिय की आशा में ही उसकी साँसें रुकी हैं।

292

जब तक आशा है तब तक प्राण भी अपने क्रिया-कलाप और गतिविधि में संलग्न रहते हैं। वह समदुखी स्वभाव वाले से आत्मीयता हो जाने के कारण उर्मिला सभी प्रोषित पतिकाओं को निमन्त्रण देती है—

प्रोषित पतिकाए हों,
जितनी भी सखी, उन्हें निमन्त्रण दे आ !
समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे जा,
प्रणयपुरस्सर ले आ।

परन्तु जब इतनी विशाल और विस्मृत पुरी में उसे कोई समदुःखिनी नहीं मिलती तो वह माता सरयू के पास जाती है, उससे न जाने कितनी अतीत स्मृतियाँ कहती है उसके साथ हँसती है, रोती है और कभी समवेदना प्रकट करती है और कभी अपनी और उसकी दशा में तुलना कर हृदय मसोस कर रह जाती है—

'गति जीवन में मिली तुझे
सरिते, बंधन की व्यथा मुझे।'

सरयू भी जब पितृगह से चलने लगी थी तो उसकी वियोग वेदना अनन्त धाराओं में फूट पड़ी थी, किन्तु अब मिलन की अनन्त आशाएं लहरें बन कर उसकी वक्षस्थली पर हिलोरें ले रही हैं। पर बिचारी उर्मिला की आशाओं की चन्द्रकिरणों को चिर वियोग के राहु ने ग्रस लिया है। वह भी यशोधरा की भाँति पीछे चलकर रुदन और गान की सीमान्त रेखा पर अधिष्ठित होती है—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ।

इसी प्रकार कभी वह शुक सारिका से समवेदना प्रकट करती है और कभी संध्या समय जलते हुए दीपक पर पतंगों के मोह को देखकर विरहिणी को अपने विरह की झाँकी मिलती है।

आगे चलकर कवि ने षट्-ऋतु परिवर्तन की प्रतिक्रिया को विरहिणी नायिका के हृदय में भावनाओं के उद्दीपन के हेतु प्रस्तुत किया है, इससे उनकी दिन-चर्या पर भी प्रभाव पड़ा है। जिससे उसका समय

299

व्यतीत करने का साधन प्रस्तुत हो जाता है। तपोयोगी ग्रीष्मारम्भ का वह स्वागत करती है, क्योंकि उसमें पर हित चिन्तन की भी भावना निहित है। वियोग उसको आत्मर्थी न बनाकर परमार्थी बना देता है। उसमें त्याग का स्पष्ट आभास लक्षित होता है, तभी तो उसने कहा है:-

"मैं अपने लिये अधीर नहीं,
स्वार्थी ये लोचन नीर नहीं,"

ग्रीष्म वर्णन में कवि ने कहीं-कहीं हेतूत्प्रेक्षा का व्यंग्य रूप में प्रयोग किया है। उर्मिला के विचारानुसार यह ग्रीष्म का ताप लक्ष्मण के तप का ही प्रभाव है, इसीलिये वह कातर हो पुकार उठती है:—

'मन को यों मत जीतो
बैठी है यह यहाँ मानिनी सुधि लो उसकी भी तो'

ग्रीष्म के पश्चात् वर्षाकाल में तो विरहियों की दशा अत्यन्त करुण होती है। काले-काले मेघ और फिर एक-धार में वर्षा का होना विरहियों के हृदयों में अनेकों भावों को उत्प्रेरित कर उद्‌बुद्ध कर देता है। परन्तु वर्षागमन के समय उर्मिला ने उसका उज्ज्वल पक्ष ही लिया है। उसकी उदार भावना ने वर्षा में उपकार की ही वृत्ति को पाया है:—

बरस घटा, बरसू मैं संग
सरसैं अवनि के सब अंग
मिले मुझे भी कभी उमंग
सबके साथ सयानी !

वर्षाकाल में घनालिङ्गता तड़िता को देखकर उसे अपनी घना-लिङ्गता की स्मृति हो आती है। शरद के खञ्जनों को देखकर उसे लक्ष्मण के सु-नयनों की लेखा स्मृति-पट पर अंकित हो जाती है:—

निरख सखी ये खंजन आए,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए।

विरह के बाह्य पक्ष के अतिरिक्त आन्तरिक पक्ष और भी अधिक रमणीय और मार्मिक है। संस्कृत के आचार्यों ने विरह की दस काम दशाएँ बतलायी हैं, परन्तु आधुनिक समीक्षक भावनाओं की सीमा के

बंधन में बाँधने का उपहास करते हैं, फिर भी विरह में अभिलाषा, स्मृति, गुणकथन आदि स्वाभाविक ही होता है। विरह में प्रत्येक विरही को प्रिय मिलन की तीव्र अभिलाषा रहती है। वस्तुतः अभिलाषा अथव उत्कण्ठा सर्व प्रधान भावना है जो सभी काम दशाओं की मूल रूप है। उर्मिला की अभिलाषा में कितनी उत्कण्ठा, भोलापन और तीव्रता है। अभिलाषा की आतुरता वैवर्ध्यमान है। परन्तु आगे विरह की दीवार खड़ी है:—

अतः वह विचारमग्न है: -

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

पूर्व-मिलन की स्वर्ण-स्मृतियाँ विरह-व्यथा को और भी प्रदीप्त करता हैं। विरह में वेदना की मात्रा उस समय के सुख से द्विगुणित हो जाती है। उर्मिला को अपने सुखद बाल्यकाल की, प्रथम-मिलन की, मस्त यौवन की क्रीड़ा की बार-बार स्मृति हो आती है। उस जीवन में कितना सत्य और कितना माधुर्य था, यही सुखमयी स्वर्ण-स्मृतियाँ उसको उन्मत्त बना देती हैं और वह विरह में पागल हो उठती है।

क्योंकि आज—

"विधि के प्रमोद से विनोद भी विषाद है।"

कामदेव पुष्प-बाण से उस पर आक्रमण करता है। इस पर वह अत्यन्त व्यथित हो उठती है और अत्यन्त दीन बनकर उससे प्रार्थना करती है:—

'मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।'

परन्तु उसकी घृष्टता को जब हटते नहीं देखती तो सती क्रुद्ध हो जाती है और आह्वान करती है:—

'बल तो सिन्दूर बिन्दु यह, यह हर-नेत्र निहारो।'

उर्मिला के हृदय में उद्बुद्ध होती हुई यही भावनाएँ तीव्र से तीव्रतर होती जाती हैं, और अन्त में उसको अर्ध-मूर्च्छित सा कर देती हैं।

यह अर्ध-विस्मृति की अवस्था में विरह-वर्णन साकेत की नूतन और प्रथम वस्तु है। उसमें रूढ़ि का पालन नहीं, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है। इस अर्ध-विस्मृति की ओट में इस युग के मनोविज्ञान की अंत-र्धारा है। अतः यह स्पष्ट है कि विरह-वर्णन की शैली अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। उसके विरह में यदि एक ओर प्राचीन शास्त्रकारों की छाप है तो दूसरी ओर नूतनता का समावेश भी स्वतः हो गया है।

———

प्रश्न ६—साकेत के प्रकृति-चित्रण की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—काव्य में प्रकृति-चित्रण करने की प्रवृत्ति परम्परा से चली आ रही है, क्योंकि मानव को प्रकृति से विशेष मोह है। सृष्टि के आदि काल से ही जब जब मानव ने आँख खोल कर देखा तब तब उसको प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा का असीम वैभव दिखलाई पड़ा। उसने नक्षत्रों से मण्डित आकाश, वर्षा ऋतु में दौड़ते हुए बादलों और सतरंगी इन्द्रधनुष की छवि को मुग्ध नेत्रों से निहारा और समय पाने पर अभिभूत हृदय की भावनाओं को सुन्दरतम शैली से अतिरंजित करके अभिव्यक्त कर डाला। बस, तभी से ही साहित्य प्रासाद को प्रकृति-सुन्दरी की सौन्दर्य-सुषमा से अलंकृत किया जाने लगा। कला-कारों ने प्रकृति-सुषमा के चित्रण में अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल शैली को अपनाया। किसी ने उसका यथातथ्य चित्रण किया और किसी ने उसके कोमल रूप का। प्रकृति के पुण्य-पुजारी कवि पंत के लिये यह सारी सृष्टि ही सौन्दर्यागार है, गुप्त जी उसके यथातथ्य रूप को ही देखते हैं और जब कवि सम्पूर्ण वस्तुओं में नश्वरता का आभास प्राप्त करता है तो प्रकृति उसके लिये अपने मन-मोहक रूप को छोड़कर प्रलयङ्कारिणी चंडी के रूप में उपस्थित होती है। पन्तजी की 'परिवर्तन' कविता प्रकृति के इसी दुर्धर्ष रूप का चित्रण है। इस प्रकार आदिकाल से लेकर आज तक कविता में प्रकृति-चित्रण होता आ रहा है, परन्तु कालचक्र की गति के साथ २ भावनाओं में परिवर्तन होने के अनुसार ही उसका स्वरूप भी भिन्न होता गया है।

जिस समय हिन्दी के वर्तमान युग का प्रवर्तन हुआ उस समय अनेक क्षेत्रों में क्रान्ति की बिजली चमक उठी। साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था ही। भारतेन्दु ने मानव-प्रकृति के अन्तः सौन्दर्य के विश्लेषण और विशदीकरण की ओर तो अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया ही, परन्तु मानवेतर प्रकृति की नैसर्गिक-सौन्दर्य-सुषमा से वे सदा उदासीन ही रहे। उनके गंगा, यमुनादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि उनमें भी प्रकृति की नग्नमाधुरी के प्रति उतना आकर्षण न था, जितना ऊँची अट्टालिकाओं अथवा मनोहर सजे-धजे घाटों-बाटों के प्रति। मानवेतर प्रकृति के जीवित जाग्रत और स्पन्दित रूप की सौन्दर्यानुभूति से वे सदा वंचित ही रह गये। किन्तु भारतेन्दु मण्डल में ही ठाकुर जगमोहनसिंह ने अपने समय की प्रवृत्ति से विलग होकर विविध भावमयी प्रकृति के रूप माधुर्य की सच्ची अनुभूति प्राप्त की। उन्होंने नर-क्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के अन्य क्षेत्रों के मेल से देखा। बस फिर तो परम्परा ही चल पड़ी और कवियों की प्रवृत्ति प्रकृति के जीवित चित्र की ओर ही रमने लगी। पश्चिम के (Wordswor.h) आदि तथा यहाँ के रवीन्द्र आदि की प्रकृतिपरक कविताओं का भी प्रतिफलन पड़ा। नवयुगीन छायावादी कवियों को छोड़कर, प्रकृति-पर्यवेक्षी कवियों में 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त जी अग्रणी हैं।

गुप्तजी ने प्रकृति को यथातथ्य रूप में देखकर अपनी सुन्दर शब्दावली द्वारा उसका चित्रण किया है। उनकी प्रायः प्रत्येक कृति प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा से सुसज्जित है। विशेषतः 'पंचवटी' और 'साकेत' प्राकृतिक दृश्यों से अनुप्राणित हो उठे हैं। 'पंचवटी' में तो अपूर्व प्राकृतिक-सुषमा है। उसके प्रारम्भ में ही सुरभि सी महक उठती है और उत्सुकता की आँधी मन ही मन चलने लगती है। 'पंचवटी' के वातावरण का दिग्दर्शन भी अत्यन्त आकर्षक है। प्रकृति के वाह्य तथा अंतः पक्ष का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य किया है। प्रकृति को मानवीय मनोभावों से अनुप्राणित करने में वस्तुतः कवि सिद्ध हस्त हैं:—

"कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोलकर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी।

इसी प्रकार 'साकेत' महाकाव्य में जहां जीवन की सम्पूर्ण परिस्थितियों का समावेश किया जाता है वहाँ साथ-साथ प्रकृति का विविध छविमय चित्र भी अङ्कित किया जाता है। अतः गुप्तजी ने अपने 'साकेत' महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण यथातथ्य रूप में अंकित किया है। प्रारम्भ में ही प्रभात का वर्णन है जो ललित-कल्पना-कलित है। प्रभात की लालिमा पृष्ठभूमि के रूप में उर्मिला के सौदर्य को द्विगुणित करती है:—

"खुल गया प्राची दिशा का द्वार है।
गगन सागर में उठा क्या ज्वार है?
+ + +
अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में।
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं।
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।"

प्रथम सर्ग के अनन्तर राज्य-विधान के क्षत विक्षत हो जाने पर कवि को प्रकृति-सुन्दरी की ओर निहारने का अवसर ही न मिला। फिर रामचन्द्र के चित्रकूट प्रवास ने उन्हें प्रकृति की ओर आकर्षित किया। चित्रकूट की सौन्दर्य-सुषमा को देखकर कवि मुग्ध हो उठा और उसका कंठ-स्वर अलाप उठा:—

"शिला कलश से छोड़ उत्स उद्रेक सा।
करता है नग नाग प्रकृति अभिषेक सा।
क्षिप्त सलित कण किरण-योग पाकर सदा।
वार रहे हैं रुधिर रत्न मणि सम्पदा।

वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा।
किसे न होगा यहाँ हर्ष विस्मय बड़ा।"

फिर आगे चलकर कवि उर्मिला के वियोग का चित्रण करने के हेतु प्रकृति के कुछ चित्रों को उपस्थित करता है। इन चित्रों में उर्मिला की विरह विदग्धता को तीव्र करने की सन्तप्तता नहीं है वरन् वे उसके आश्वासन के प्रतीक रूप बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं गुप्त जी ने कहा है—

"साधारणत: विरह वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। किन्तु उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानों विद्रोह करती है। वह सबका स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको प्रियतम की आभा दिखाई देती है।" शरद ऋतु में खंजनों को देखकर उसे अनुमान होता है मानो उसके प्रियतम ने इधर अपने नेत्र घुमाए हैं—तभी तो कवि ने अपनी काव्य कला द्वारा रूपकातिशयोक्ति से अलंकृत करते हुए शरद ऋतु के सुहासित दृश्य का चित्राङ्कन इस प्रकार किया है—

"निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये!
फूल उठें हैं कमल, अधर-से ये वन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये।"

मैथिलीशरण जी की इन प्राकृतिक सौन्दर्य—सुशोभित पंक्तियों में जायसी के इस भाव का आभास होता है—

नयन जो देखा कमल भा, निरमल नील सरीर!
हँसत जो देखा हँस भा, दसन ज्योति नग-हीर॥

इस प्रकार भावों की लपेट में प्रकृति के न जाने कितने रूप खुलते हैं। कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिये प्रेरित करती है और कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। ग्रीष्म में इधर दीन मृग दुःखी हैं, उधर मीन विकल हैं, हेमन्त में यदि उर्मिला घर में दुबली सी थी तो पद्मिनी सर में नाल-शेष थी, शिशिर में मकड़ी सहानुभूति दिखाती है क्योंकि वह भी तो उर्मिला जैसी जालगता थी। बसन्त में षद् पदी भी भ्रमर से उसी प्रकार गतिहीन बैठी थी जिस प्रकार निज सदन में सप्तपदी उर्मिला। इसी प्रकार कवि ने समस्त प्रकृति को सहृदय और सजीव बनाकर उसे सहानुभूति से पूर्ण कर दिया है।

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति वशा,
जालगता में भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा।

गुप्तजी ने कहीं-कहीं प्रकृति के गायन के स्वर का भी सुन्दर चित्रण किया है। शरदकालीन स्वच्छ नदी की धारा ढलमल ढलमल करती हुई प्रवाहित होती चली जा रही है। इसी का सजीव चित्रण कर कवि ने चित्र में भी गतिशीलता को अनुप्राणित कर दिया है—

सखि, निरख नदी की धारा।
ढलमल-ढलमल चंचल अंचल, झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके,
उछल-उछल कर, छल-छल करके,
थल-थल तरके, कल-कल धरके,
बिखराता है पारा!
सखि! निरख नदी की धारा!

कल्पना की चरम सीमा पर पहुँच कर कवि कभी-कभी प्रकृति के साथ ऐसा व्यवहार करता है मानों वह सखी, सहेली हो। यथा—साकेत में—

अरी सुरभि, जा लौट जा, अपने अंग सहेज।
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज।

प्रकृति के साथ ऐसी तादात्म्य भावना अभिनय युग की ही विभूति है और है यह विभूति गुप्तजी के प्रकृति चित्रण की भी। गुप्तजी ने विराट दृश्यों को कहीं विराट् और कहीं लघु चित्रों में बाँधने का भी प्रयास किया है। समस्त साकेत पुरी घनीभूत तम-तोम से इस प्रकार आच्छादित है जैसे नीले कमल में भ्रमर सोया हुआ हो। साकेत—पुरी भी भ्रमर बनकर अन्धकार रूप नीले कमल में शयन कर रही है। यहाँ पर कवि ने साकेतपुरी की विशालता को भ्रमर का लघुरूप बड़े ही कौशल से दिया है—

"तम में क्षित-लोक सुप्त यों,
अलि नीलोत्पल में प्रसुप्त ज्यों"

इसी प्रकार—

"वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा"

में विराट् दृश्य को लघु रूप में इस प्रकार चित्रित कर दिया है जैसे मुद्रा में नग को जड़ दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि कवि का दृश्यों के रूप का यह आवर्त्तन-परिवर्त्तन उपयुक्त प्रकार से गढ़ा गया है, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। परन्तु क्या प्रकृति का केवल इतना ही विधान है? नहीं, जहाँ वह एक ओर चेतन रहस्यमयी है वहाँ दूसरी ओर उपदेशिका भी। पंत ने इसी भावना का सूत्रपात कितने सुन्दर शब्दों में किया है—

वन की सूनी डाली पर।
सीखा कवि ने मुसकाना॥
पर मैं सीख न पाया अब तक।
सुख से दुःख को अपनाना॥

इस प्रकार बहुत से ऐसे सुरम्य चित्रों से ही साकेत सुशोभित है। कवि ने प्रकृति सुन्दरी को मानवीय भावों का चोला पहिनाया जिसके कारण मानव उनकी उपेक्षा न कर उसे अपनी सम-वयस्का समझने

लगा है। यह हैं गुप्तजी की आधुनिक प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी विशेषता।

प्रश्न ७—गुप्तजी ने साकेत की रचना में प्रबन्धात्मक शैली का अच्छा उत्कर्ष दिखाया है। इस कथन को ध्यान में रखते हुए साकेत की शैली सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—"रसात्मकं वाक्यं काव्यं" काव्य की आत्मा रस है, अतः काव्य वह शरीर है जिसमें रस रूप आत्मा प्रतिष्ठित रहती है। परन्तु काव्य के शरीर को आकर्षक और रमणीय बनाने के हेतु तथा उसके बाह्य सौन्दर्य में वृद्धि करने के लिये साधना की भी आवश्यकता रहती है। जिन प्रसाधनों द्वारा वह सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है उसे ही शैली कहते हैं। अतः रचना चमत्कार को ही शैली के नाम से सुशोभित किया गया है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की आकृति आदि का नाम ही शैली है। अन्तस्तल के गुह्यतम भावों की अभिव्यक्ति के साधन का नाम ही शैली है। कुछ आलोचकों के मतानुसार शैली विचारों का परिधान है। किन्तु श्यामसुन्दरदास जी ने कहा है कि 'शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा।' कुछ लोग शैली को भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग मानते हैं।

जगत में 'भिन्नः रुचिहि लोकः" का सिद्धान्त प्रतिफलित होने के कारण प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने जीवन की लता को उसी ओर ढालता है, जो उसका ऐच्छिक मार्ग होता है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी प्रत्येक कवि की भावों को अपने सुबोध ढंग से करने की शैली होती है। इस सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र जी का कहना है—"कि शैली का विकास व्यक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण मनुष्य के चरित्र से सम्बन्धित होता है। और इसीलिये कवि की शैली की विशेषताओं से परिचय प्राप्त करना उसकी निजी विशेषताओं से जानकारी प्राप्त करना होगा।"

गुप्तजी के सात प्रणेता हैं और उन्हें काव्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भाषा पर अधिकार और विषय के मनन के कारण उनकी लेखनी में आकर्षण शक्ति आ गई है। उनकी प्रबन्धात्मक शैली में रोचकता, मार्मिकता और मर्मस्पर्शिता के दर्शन होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कृतियों के विश्लेषण करने से उनकी चार प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं—(१) उपदेशात्मक शैली, (२) गीति-काव्य शैली, (३) नाटकात्मक शैली (४) प्रबन्धात्मक शैली। उपदेशात्मक शैली में साधारण और अलंकृत शैलियों को निर्दिष्ट किया गया है। गीतितत्त्व में कोमल भावना और उद्गीति का, नाटकात्मक शैली में परिस्थिति चित्रण और प्रबन्ध काव्य में कथा वर्णन का प्राधान्य होता है। परंतु आज का कवि सीमाओं के बन्धन में न रहकर स्वतन्त्र होकर साहित्य क्षेत्र में विचरण करता है। नाटक में भी गीतों के स्वर और ताल की ध्वनि सुनाई देती है और प्रबन्ध रचना में तो गीत और नाटक दोनों का समन्वित रूप ही दीख पड़ता है। परन्तु प्रबन्ध-रचना में गीत की अपेक्षा घटनाओं के वर्णन की प्रधानता रहती है।

साकेत प्रबन्धात्मक काव्य है अतः उसमें कथा-वर्णन का प्राधान्य है। कथा वर्णन का सबसे प्रधान तत्त्व है 'प्रवाह', जिसके सम्बन्ध में यह सम्मति प्रकट की गई है कि 'जिस कथा में अविच्छिन्न धारा प्रवाह नहीं है वह कम से कम महाकाव्य के उपयुक्त नहीं हो सकती।' साकेत में धारा-प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित नहीं है। मुख्य-मुख्य दृश्यों का चयन कर उनको प्रसङ्गानुकूल समन्वित रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। उदाहरणार्थ साकेत के प्रेम-परिहास सम्बन्धी प्रथम सर्ग से राम के राज्याभिषेक की सूचना मिलती है, और द्वितीय सर्ग मंथरा-कैकेयी संवाद सम्बन्धी है, जिसमें वियोग का बीज प्रस्फुरित हो उठता है। कवि ने इन दोनों दृश्यों को, दशरथ और उनकी रानियों के सुख-वैभव का तीन-चार पंक्तियों में वर्णन करके, परस्पर अन्वित कर दिया है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन सा फूला सब ओर।

किन्तु हा ! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गए मंथरा नेत्र !

आम्रवन के रूपक द्वारा मन्थरा के नेत्रों को कीट बनाकर कवि दूसरे दृश्य को आरम्भ कर देता है। तत्पश्चात् कथा छोटे-छोटे दृश्यों द्वारा आगे बढ़ती चली जाती है। एक ओर कैकेयी ईर्ष्या और रोष की पात्री बनकर बैठी है और दूसरी ओर कौशल्या आल्हादपूर्ण दिखाई देती है। फिर उर्मिला-लक्ष्मण का वार्तालाप है और राम की मनोदशा का वर्णन है और अन्त में दशरथ की चिन्ता का चित्रण। इस प्रकार कथा प्रवाहमयी बन जाती है और लौटते हुए दशरथ को कैकेयी के शान्त गृह की ओर एक साथ आकृष्ट कराकर कवि फिर एक मुख्य दृश्य दशरथ-कैकेयी सँवाद का चित्रण करता है। सँवाद बढ़ते हुए वर याचना प्रसँग पर आ जाता है और दशरथ-कैकेयी का मान-हरण करते हुए कुछ माँगने के लिये कहते ही हैं कि उन्हें पहले दिये हुए दो वरों की स्मृति हो आती है। और कैकेयी को भी इष्ट प्राप्ति का यही साधन मिल जाता है। इस प्रकार यद्यपि कवि ने कथा में अन्वय करने का प्रयास किया है तथापि कथा में जोड़ सर्वत्र लक्षित नहीं होता है। कथा की घटनाएँ एक दूसरे से प्रस्तुत होती चली जाती हैं। शत्रुघ्न जब भरत से राक्षसों की कथा कहते हैं तब एक विचित्र घटना घटित हो जाती है। क्योंकि "Think of the devil and the devil is there" के अनुसार उनकी मायावी राक्षस के भ्रम से हनुमान पर दृष्टि पड़ती है और इसीलिये भरत उन्हें राक्षस ही समझ कर बाण द्वारा धराशायी कर देते हैं। इस प्रकार तुरन्त ही हनुमान के द्वारा कथा-प्रवाह को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त होता है।

कथा में दृश्यों का प्राधान्य होने के कारण कवि को घटनाओं का समावेश तत्परता से करना पड़ता है। एक ओर दशरथ के मूर्च्छित होने का दृश्य है तो उधर राम लक्ष्मण सहित 'चलो पितृ वन्दना करने चलें अब' कहते उन्हें प्रणाम करने के लिये जाते हैं और इस प्रकार राम-वन-वास की सूचना के लिये राम को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

साकेत में कवि ने संयम का अत्यन्त सुन्दर और कलामय विधान किया है। प्रायः प्रत्येक स्थल पर जहाँ परिस्थिति की गम्भीरता लक्षित होती है वहाँ भावनाओं में संकुलता है। कहीं-कहीं तो मौन से कार्य सिद्धि की है। यह भावुकता का अनुरोध भी है और शैली का प्रसाधन भी। बन गमन के समय सीता और लक्ष्मण की परिस्थिति पर विचार करने के लिये तुलसीदास ने वाद-विवाद पूर्ण पर्याप्त वार्तालाप करवाया है। परन्तु साकेत प्रणेता ने तो परिस्थिति की गम्भीरता में केवल एक एक पंक्ति द्वारा ही सीता और लक्ष्मण के सहगमन सम्बन्धी परिस्थिति का परिणाम स्पष्ट कर दिया है।—लक्ष्मण के सहगमन का निश्चय निम्न रूप में ही हो गया है—

'बिदा की बात किससे और किसकी
अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ इसकी।'

सीता— 'कहती क्या वे प्रिय जाया,
जहाँ प्रकाश वहीं छाया।'

कथा प्रवाह में कथोपकथन और दृश्य चित्रण के अतिरिक्त कवि ने भाषण और स्वागत कथन का भी आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ कैकेयी की वर-याचना सुनकर शत्रुघ्न का क्रान्तिकारी भाषण होता है और चित्रकूट में सीता स्वगत रूप में ही गायन करती है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अनुमान का आश्रय भी लिया गया है। चित्रकूट में राम को पिता-मरण की सूचना नहीं मिलती वरन् वे,

'उस सरसी सी आभरण रहित सित-वसना'

माता को देखकर स्वयं ही 'हा ! तात', कहकर चीत्कार कर उठते हैं। प्रासङ्गिक कथाओं के वर्णन में इतिवृत से ही सम्बन्ध निर्वाह किया गया है। हनुमान युद्ध वर्णन में इसी शैली का अनुगामी बनता है। उसने इस शैली को अपनाकर ही सीता हरण से लक्ष्मण-शक्ति तक की घटनाओं का वर्णन किया है। उर्मिला की स्मृति रूप में, अथवा जिन घटनाओं का उसकी स्मृति पर अधिक प्रभाव पड़ा था, भावपूर्ण शैली में वर्णन करती है। रघुराजाओं की वँश-परम्परा अपने भूतकालिक

दिनों की स्मृति तथा राम-लक्ष्मण जन्म सम्बन्धी उल्लेख सरयू से करती है। इस प्रकार के भावपूर्ण स्थलों में स्वयमेव ही स्पन्दन और गति का प्रवेश हो जाता है। ऐसे स्थलों पर रोचकता एवं उत्सुकता का निर्वाह यथेष्ट मात्रा में हुआ है। कथा-प्रवाह कहीं-कहीं सवेग भी हो गया है। युद्ध वर्णन करते-करते तो हनुमान परिस्थिति का बंधन भी तोड़ देते हैं। कथा-प्रवाह इतना तीव्र होता है कि शब्द ठसाठस धक्कमधक्का देते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं। इसमें हनुमान के वीरत्व भाव का आभास मिलता है। वीरत्व के आवेग के कारण भाषा भी आवेगपूर्ण हो जाती है परन्तु अन्त में लक्ष्मण की मूर्छा के साथ वर्णन भी एक साथ क्षीण हो जाता है। लक्ष्मण के श्वास-विराम के साथ कथा-प्रवाह के शब्दों में भी वाञ्छित विराम हो जाता है।

रोचकता और उत्सुकता कथा-प्रवाह की सबसे बड़ी विशेषता है। साकेत की घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सभी पाठक प्रायः उससे पूर्व-परिचित ही रहते हैं अतः उसमें उत्सुकता का निर्वाह करना कुछ कठिन ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है। फिर भी गुप्तजी ने मौलिक उद्भावना से उसे कर दिखाया। अनेक स्थलों पर तो इतना गाम्भीर्य आ गया है कि पाठक पर उसका चिर-स्थायी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ चित्रकूट में कैकेयी का स्वदोष स्वीकृति प्रसंग, उर्मिला-लक्ष्मण का मधुर मिलन, राम-रावण-युद्ध आदि ऐसे स्थल हैं जिनको पढ़कर पाठक के हृदय में हर्ष आमोद और औत्सुक्य होता है। औत्सुक्य के लिये भावी गति विधि से पाठक को अनभिज्ञ होना चाहिए इसके लिये कथा में ड्रेमेटिक टर्न (Dramatic turn) की आवश्यकता रहती है। साकेत में प्रायः स्थान-स्थान पर परिस्थिति का ऐसा विधान किया गया है। कथा में रोचकता का समावेश विस्मय अथवा कौतूहल की सृष्टि द्वारा होता है। कभी-कभी पात्र कुछ ऐसी कार्यवाही करते हैं अथवा कुछ ऐसा कथन करते हैं जिनका अर्थ कुछ समय पश्चात् बाद में जाकर पाठकों के लिये पूर्व परिचित सा हो उनमें कौतूहल की सृष्टि करता है, परन्तु पात्र स्वयं उससे अनिभिज्ञ रहता है। पात्रों की इस अनभिज्ञता

और पाठकों की अनभिज्ञता के बीच में जो विषमता रहती है, जिसको नाटकीय विषमता (dramatic irony) कहते हैं, कौतूहल का सन्देश देती है। साकेत में नाटक के ऐसे तत्त्व स्वतः ही आ गए हैं । अनेकों स्थलों पर dramatic irony का भी अच्छा विधान हुआ है । कभी परिस्थिति में और कभी शब्दों में नाटकीय विषमता का प्रयोग किया है। चित्रकूट में राम और सीता विलास-क्रीड़ा में मग्न हैं। राम सीता से परिहास करते करते स्वभावत: कह उठते हैं—

हो जाना लता न आप लता संलग्ना
करतल तक तो तुम हुईं नवल-दल मग्ना !
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको।
है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ कुसुम को।

राम परिहास में नवल-दल मग्ना सीता को ढूंढ़ने की बात कहते हैं जिसमें न कोई रहस्य और न गाम्भीर्य है । परन्तु श्रोता अथवा पाठक परिहास में भी आगे चल कर प्रत्यक्ष ही राम को सीता की खोज में भटकता हुआ देखकर दोनों घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर और राम की उक्ति के भविष्य संकेत को समझकर विस्मय-विमुग्ध हो उठते हैं।

गुप्तजी के साकेत का कथाप्रवाह इतना गुण-शक्ति-संचिता होने पर भी कतिपय दोषों से भी मुक्त नहीं है। अनेक स्थलों पर सजीवता का सर्वथा अभाव है—विशेषकर तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ सर्ग में । वहाँ निर्जीव वर्णनों की अधिकता है—

मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके
आँखों की पुतली निकल पड़ी
वह यहीं कहीं है विकल पड़ी।

कथा-वर्णन में अनुपात का अभाव होने के कारण कथा-प्रवाह विषम सा हो गया है। प्रारम्भ में उसका प्रवाह अत्यन्त मंथर गति से चलता है, मध्य में आकर पूर्ण स्थिर हो जाता है और अन्त में धक्कम-

धक्का होती है। ऐसा ज्ञात होता है मानों कवि किसी शीघ्रता के आवेश में बढ़ता चला जा रहा हो।

शैली में कथा-प्रवाह के अतिरिक्त दृश्य-विधान का चित्रण भी कवि ने सफलता के साथ किया है। यद्यपि उसमें कवि-परम्परा सम्बन्धी कुछ बातों का समावेश भी हुआ है, तथापि एकाध स्थान पर वातावरण का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रारम्भ में राजप्रासाद का अत्यन्त मोहक वर्णन मिलता है—

ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसंवत के निदर्शन रूप हैं।
राघवों की इन्द्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े।

प्रस्तुत चित्र में संस्कृति-पूजन से आर्य-गौरव सजीव हो उठा है। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सुन्दर उदाहरण है। कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण भी किया है। प्रकृति का कुछ चित्रण तो सामान्य रूप में किया गया है और कुछ ऐसे चित्रण हैं जो पात्रों के भावों पर घात-प्रतिघात द्वारा प्रभाव डालते हैं। प्रो० नगेन्द्र का कहना है—कि "साकेत में प्रकृति के चित्र नहीं—वर्णन हैं, उनमें भी शिथिलता है।" इसके लिये उन्होंने कवि की भाषा को ही आंशिक रूप में दोषी सिद्ध किया है। प्रथम सर्ग के प्रभात वर्णन में पर्याप्त सौन्दर्य-सुषमा है परन्तु उस चित्र में पूर्णता का सामावेश नहीं है—

'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ
किंतु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे!
दीप कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी!

रात्रि के अंगों का क्रमशः पीला पड़ना, उसके रम्यरत्नाभरणों का ढीला पड़ना (तारागण) नींद के पैरों का कँपना, दीप ज्योति का एक घेरे में घिरी हुई रह जाना—आदि सभी में कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति के दर्शन तो होते हैं और कल्पना की चित्रात्मकता भी मिलती है: परन्तु चित्र में एकात्मकता नहीं है। उसकी भाषा सुगठित नहीं है 'आना हुआ' 'जाना हुआ' आदि अनेक रुचि-विरोधी गठन हैं। किन्तु फिर भी रम्य प्रकृति-चित्रों का सर्वथा अभाव नहीं है। मानव-चित्रों के चित्रण में तो काव्य चमत्कृत हो उठता है—

चूमता था भूमितल को अर्द्धविधु-सा-भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग जाल बनकर बाल।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ ?

मानव की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में कवि की तूलिका ने महान कला-कौशल प्रदर्शित किया है। मुद्राओं के अङ्कन के अभाव में भाव का प्रभाव क्षीण हो जाता है। क्योंकि उसमें मूर्तता नहीं रहती। साकेत में स्थान-स्थान पर मुद्राओं का चित्राङ्कन किया गया है। राम पिता को वन्दना कर उनसे विदा होकर माता के पास जाते हैं। 'बन-वास का समाचार सुनकर समस्त रनवास शोकाग्रस्त हो जाता है। राम के प्रति किये गए ऐसे अन्याय पर उन्हें माता के पास जाते हुए देखकर नौकर उन्हें विस्मय-विमूढ़ होकर देखते हैं। उनकी उस समय की मुद्रा का चित्रण दो ही पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर शैली से करता है—

झुका कर सिर प्रथम, फिर टक लगाकर,
निखरते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

वस्तुतः कवि का यह अवाक् मुद्रा-चित्र सराहनीय है। पाश्चात्य आलोचक ब्रूस्टर के मतानुसार "चित्रण केवल वस्तु का ही नहीं भाव एवं मनोदशा का भी हो सकता है और होता है।" साकेत में कवि ने भावों के भी रंगीन चित्र अङ्कित किए हैं—

उत्तर की अनपेक्षा करके, आँसू रोक सुमन्त्र।
चले भूप की ओर वेग से घूमा अन्तर्यंत्र ॥
'अरे' मात्र कहकर ही उनको रहे देखते राम।
और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक ललाम ॥

कथा-प्रवाह की सुविधा के लिये भले ही वह नाटक, उपन्यास प्रबंध काव्य का हो, संवाद एक आवश्यक उपकरण माना गया है। उसके द्वारा पात्रों की अन्तःस्थिति का प्रकाशन होता है और चरित्र की उलझनमयी गुत्थियाँ सुलझती हैं। कथा का प्रवाह भी सुचारू रूप से आगे बढ़ता है। लक्ष्मण-उर्मिला संवाद, दशरथ कैकेयी संवाद आदि कथा की गति को प्रगतिशील बना देते हैं। कभी-कभी कथोपकथन से पात्र की अन्त-वृत्तियों का प्रकाशन होता है जैसे भरत-राम संवाद, मंथरा-कैकेयी-संवाद और भरत कैकेयी संवाद में प्रत्येक पात्र की एक दूसरे के प्रति श्रद्धा भावना विरोधी और ईर्ष्या भावना का प्रकाशन होता है। संवादों द्वारा कहीं-कहीं वर्णन में सरसता, मधुरता एवं सजीवता के दर्शन होते हैं। सीता और राम का प्रणय परिहास अथवा सीता और लक्ष्मण का विनोद कथा में सजीवता, सूक्ष्मता और मधुरता ला देता है।

पात्रों के संवादों में स्वाभाविकता, परिस्थिति की अनुरूपता एवं गतिशीलता पाई जाती है। प्रत्येक पात्र के संवाद में उसके स्वभाव के अनुरूप ही उसकी वाणी की ध्वनि में गुण पाया जाता है। लक्ष्मण और उर्मिला के संवादों में समय और परिस्थिति के अनुसार क्रमशः उग्र, क्रोधी भावमय वार्ता और शील समन्वित स्नेहमय वार्ता ही दीख पड़ती है, जो स्वभावतः उनके स्वभाव के अनुरूप है। परन्तु लक्ष्मण का उग्र और क्रोधी रूप उसके स्वभाव का दोष नहीं है। परिस्थिति उसके स्नेहमय स्वभाव को द्वितीय सर्ग में कैकेयी से वार्ता करते समय उग्र बना देती है। यही दशा उनकी चित्रकूट में भरत को ससैन्य आते देखकर होती है। सजीवता और उद्दीप्ति तो साकेत के संवादों का प्राण है। साकेत की कथा अधिकतर संवादों और दृश्यों द्वारा ही गतिशील बनी रहती है। संवादों पर कवि कला का रंग भी किया गया है, क्योंकि

वह उपन्यासकार की सृष्टि नहीं हैं। कविकला द्वारा रचित संवादों में मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता का विशेष गुण प्रधानतः लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त रसात्मकता का विशेष गुण भी साकेत के संवादों की प्रधानता है। एकाध स्थान पर कवि ने कल्पना और श्लेष का आश्रय भी लिया है जिससे परिहास अत्यन्त मनोरम बन पड़ा है—

उर्मिला बोली—अजी तुम जग गए,
स्वप्ननिधि से नयन कबसे लग गए।
मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।

इस स्थल पर कवि ने 'स्वप्ननिधि' और 'जागरण' के लिङ्गभेद को दृष्टि में रखकर रसात्मक परिहास पूर्ण वाग्धारा स्नेहमयी उर्मिला के मुखारविन्दु में निर्सगित कराई है। इससे विनोद में एक मर्मस्पर्शिता का भाव स्वयमेव हो आ गया है।

अपने कथन को सर्वाधिक प्रभावशाली और मार्मिक बनाने के लिये कवि-समाज सदा से ही भिन्न-भिन्न अभिव्यंजना कौशल प्रणालियों का उपयोग करता आया है। गुप्तजी ने भी साकेत के काव्य-वैभव को अपनी प्रतिभा से पूर्णतः अलंकृत किया है। उनकी काव्य-श्री पूर्णतः मण्डित है। उसमें शकुन्तला की सी वन्य सौन्दर्य-सुषमा नहीं, नागरिकता को शिष्टतापूर्ण अलंकार परिधान है। कथानक में उक्ति वैचित्र्य की योजना के लिये सबसे व्यापक और सरल पद्धति है। प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत का विधान वस्तु का सजीव वर्णन करने के लिये सादृश्य और भाव को तीव्र करने के लिये साधर्म्य का प्रयोग होता आया है। साकेत में इस प्रकार का अप्रस्तुत विधान अनेक स्थलों पर हुआ है।—

रथ मानों एक रिक्त घन था,
जल भी न था न वह गर्जन था।

इस स्थल पर रथ और घन का परस्पर कोई सादृश्य नहीं है परन्तु रिक्त घन में जो अभाव और सूनापन है, वह रथ की शून्यता को व्यक्त करता

है। रीते बादल जिस प्रकार अपना सर्वस्व लुटाकर मथरगति से शाँत होकर चले आते हैं इसी प्रकार वह रथ राम को छोड़कर आ रहा था, जिसके घोड़ों में न उत्साह था और न तीव्रता ही। अतः यहाँ साधर्म्य के अनुसार रमणीय अप्रस्तुत योजना हुई है। प्रभाव-साम्य का आभास भी रिक्तता में मिलता है। साकेत में कहीं-कहीं बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप को बड़े सूक्ष्म कौशल से ग्रहण किया गया है।—

जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया,
हत जिसकी पंकज पंक्ति, अचल सी काया,
उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।

प्रस्तुत चित्र में कौशल्या माता के वैधव्य रूप को सादृश्य विधान द्वारा सूक्ष्म रूप में अङ्कित किया गया है। सादृश्य-विधान के प्रस्तुत चित्र में अनेक तत्त्व मिलते हैं। बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का आच्छादन आधुनिक प्रणाली के अनुसार भी किया गया है। प्रस्तुत के स्थान पर प्रतीकों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर मिलता है।

"किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीध में मतवाला,
नीलम के प्याले में तारक बुद्बुद् देकर उफन रही वह हाला।"

इसमें प्रस्तुत आकाश के लिये अप्रस्तुत नीलम के प्याले का, और रात्रि में मादक शोभा के लिये हाला का प्रयोग हुआ है। रात्रि की सौन्दर्य-सुषमा वियोगिनी को पागल बना देती है, इसी भाव की व्यंजना प्रस्तुत पंक्तियों में की गई है।

अपनी अभिव्यंजना प्रणाली को प्रभविष्णुता के रंग में रँगने के लिये कवि-ध्वनन-शील शब्दों का प्रयोग करता है, जिससे भाव स्वतः चित्रित हो जाते हैं। इन शब्दों का श्रवण कर श्रोता के कानों में कथित बात गूँज जाती है और इस प्रकार भाव प्रकाशन में प्रभविष्णुता आजाती है। साकेत में प्रसङ्गानुकूल भाषा का प्रयोग तो हुआ है परन्तु ध्वनन-

शील प्रसङ्गों का अभाव ही है । फिर भी भाषा में कुछ ध्वनि चित्रण उपलब्ध होते हैं ।

घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी ! में ऐसा सुनाई पड़ता है मानों प्रत्यक्ष ही युद्ध-स्थली का चित्र हो और रण-भेरी बज रही हो। इसी प्रकार निर्झर के नाद का भी ध्वन्यानुकूल भाषा में चित्रण किया गया है जिसमें निर्झर के नाद की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है—

ओ निर्झर झरझर नाद सुना कर झड़ तू ।
पथ के रोड़ों से उलझ-उलझ बढ़ अड़ तू ।
ओ उत्तरीय, उड़ मोद पयोद घुमड़ तू !
हम पर गिरि गद्गद् भाव, सदैव उमड़ तू ।

प्रथम पंक्ति में पानी का झरना, दूसरी में रोड़ों से अड़ता हुआ बढ़ना और अन्तिम में उसके एक साथ वृहत् परिमाण में गिरने की ध्वनि सुनाई देती है । गुप्तजी के काव्य में भाषा की भावानुरूपता ही उनकी शैली की प्रधान और प्रथम कसौटी है । विविध शब्द निधि पर उनका पूर्ण अधिकार है । हाँ संस्कृत की छाया उन शब्दों पर गम्भीर रूप में पड़ी है । उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का इतना आधिक्य है कि भाषा अत्यन्त क्लिष्ट दिखाई देती है । परंतु आगे चलकर भाषा क्लिष्टता का आवरण त्याग कर सरल और सुगम मार्ग की पथिक बन जाती है । पहले द्विवेदीजी के मार्ग का अनुसरण करके खड़ीबोली का आँचल पकड़ा और फिर धीरे-धीरे स्वतन्त्र रूप में अपने काव्य वैभव को स्वतन्त्र खड़ीबोली से विनिर्मित किया । उनकी भाषा में शुद्ध द्विवेदीय भाषा से लेकर आधुनिक भाषा तक के सभी रूप मिलते हैं। साकेत की भाषा काव्य की दृष्टि से प्रौढ है जो अत्यन्त शुद्ध है परन्तु आगे बढते-बढते शक्ति का अभाव होता गया है । विचारों और भावों के वहन करने के कारण भाषा की बाह्य सौन्दर्य-सुषमा विकृत होती गई है । खड़ीबोली के अन्य कवियों की भाँति गुप्त जी ने भी संस्कृत के अक्षय भण्डार की शरण ली है । फिर भी उनकी भाषा प्रिय-प्रवास की भाषा की भाँति संस्कृत गर्भित नहीं है । अपितु फिर भी ऐसे

अनेक शब्द मिलते हैं जिनका गुप्तजी ने यथायोग्य प्रयोग नहीं किया है ! अरुन्तुद, त्वेष, कुल्य आदि अप्रचलित शब्दों का समाहार खड़ी बोली में किसी प्रकार भी सम्भव नहीं । इसमें कवि की तुक पूर्ति के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं लक्षित होता । कुछ शब्दों की रचना कवि ने संस्कृत व्याकरण का अनुकरण करते हुए की है ! 'लाक्ष्मण्य', एवं 'सपरागाम्वुजता' अत्यन्त ही रमणीय शब्द हैं । छोटे समासों का प्रयोग भी भाषा की प्रकृति के अनुसार किया गया है। संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त झीमना, छींटना, घाता, धड़ाम आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी साकेत की भाषा में पाया जाता है । भले ही शब्द प्रभाव वृद्धि के उपयुक्त समझे गये हों परन्तु उसे भाषा की शुद्धि पर बड़ा आघात पहुँचा है । "कहकर हाय धड़ाम गिरी" "ठण्डी न पड़ बनी रह तत्ती" ।

(४) व्याकरण की दृष्टि से साकेत की भाषा में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है । खड़ी बोली की प्रकृति और शक्ति का कवि को पूर्ण ज्ञान है । द्विवेदी जी का दीक्षानुसरण करने के कारण उनकी भाषा सर्वत्र व्याकरण सम्मत है । गुप्त जी की भाषा की सर्वतोमुखी प्रधानता यह है कि उसमें खड़ी बोली अपनी विशेषता से पूर्णतया सुरक्षित है । यद्यपि साकेत में भाषा सम्बन्धी इस गुण का कुछ अभाव सा है तथापि कुछ खरापन उसमें भी लक्षित होता है :—

निरख सखी ये खंजन आये ।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मनभाये ।

साकेत में प्रवेश करते ही उनकी भाषा सुसंस्कृत और शुद्ध रूप का परिधान कर लेती है । गुप्तजी का खड़ी बोली पर इतना अधिकार है कि वे वाञ्छित रूप में उसे जिधर चाहें मोड़ सकते हैं । इससे वह अपनी भाषा को तुकान्त भी बना गये हैं । भाषा पर पूर्णतः अधिकार होने के कारण वे कठिन से कठिन तुक को भी सरलता से प्राप्त कर लेते हैं । साकेत के संवादों में भी कवि का वाक्चातुर्य और उत्तर प्रत्युत्तर का उत्तम साधन दिखाई देता है ।

भाषा की प्रौढ़ता के और शक्ति की महत्ता के साथ-साथ थोड़े में अधिक कहने की शक्ति भी उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रायः मुक्तक कवियों ने इस प्रकार की पद्धति को अपनाया था। बिहारी जी के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे गागर में सागर भरते हैं। उनके दोहों की यह विशेषता प्रसिद्ध है कि—

"सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥"

अतः प्रबन्ध काव्य में मुक्तक काव्य की इस विशेषता को पाना असम्भव सा प्रतीत होता है। परन्तु फिर भी साकेत के नवम सर्ग में भाषा इतनी प्रौढ़ होगई है कि अर्थ-गौरव के साथ समास पद्धति का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होता है। यथा—

तारक-चिन्हदुकूलिनी पी-पी करमधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ, रिक्त सुधाधर-पात्र।

इससे स्पष्ट है कि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वे भाषा के अकृत्रिम सौन्दर्य अथवा पालिश पर विश्वास नहीं करते। इसलिये पन्तजी का सा शब्द-चयन और उनकी काँट छाँट उनकी भाषा में नहीं मिलती। कवि ने भाषा में तुक को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। तुक के लिये तो गुप्त जी शब्द और अर्थ-गौरव सभी कुछ बलिदान कर देते हैं। इसी कारण कभी-कभी कवि भावोत्कर्ष पर पहुँचते-पहुँचते तुक के कारण ही नीचे गिर पड़ा। साकेत सरीखे प्रबन्ध काव्य में लल्ली, मल्ली, लक्खी आदि शब्दों का प्रयोग तुक के कारण ही हुआ है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि साकेत की भाषा में मधुरिमा नहीं है। अनेक स्थलों पर तो शब्द और भाव दोनों में अदभुत माधुर्य लक्षित होता है।

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसती,
तब नख-ज्योति-मिस मृदुलअंगुलियाँ हँसती॥

गुप्तजी ने ही सर्वप्रथम द्विवेदी जी की भाषा को काव्योचित रूप प्रदान किया। साकेत में आकर वह भाषा शक्ति और अलंकृति प्रधान हो गई। अलंकार स्वतः भाषा वसन सज्जा में निरत हैं, अनुप्रास की

रुनझुन, श्लेष का चमत्कार, और पुनरुक्ति कवैभव उसमें सुलभ ही देखने को मिलता है ।

कविता के नैसर्गिक परिधान-छन्द की प्राप्ति कवि को सीताजी के दिव्यदूकूल की भाँति कविता कामिनी के साथ ही प्राप्त हुई है । प्रायः सभी रमणीय छन्दों की योजना करके कवि ने अपनी काव्य-वाटिका में सौन्दर्य और नूतनता को छिटका है। छन्दों का चयन प्रसङ्गानुकूल ही हुआ है । प्रणय परिहास प्रसङ्ग में पीयूष-वर्णन छन्द का विधान किया है जो अत्यन्त मधुर बन पड़ा है। प्रत्येक सर्ग के विषयानुसार कवि छन्दों का परिवर्त्तन करता गया है जिससे परिस्थिति का स्वाभाविक चित्रण हो जाता है।

महाकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन होता गया है। नाटक में Scene drop होने की भाँति सर्ग के अन्त में छन्द में पूर्व प्रसङ्ग का अवसान और द्वितीय सर्ग में प्रसङ्गानुकूल फिर नवीन छन्द में नया सीन आरम्भ हो जाता है । यथा—प्रथम सर्ग में—

> चूमता था भूमितल को अर्ध-विन्दु-सा भाल,
>
> × + ×
>
> हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ—आदि

ड्राप सीन होता है और दूसरे छन्द में इस प्रकार संकेत है:—

> इसके आगे विदा विशेष,
> हुए दम्पति फिर अनिमेष ।
> किन्तु जहाँ है मनोनियोग,
> वहाँ कहाँ का विरह-वियोग ?

प्रो० नगेन्द्र के अनुसार "साकेत में कवि ने हिन्दी में साधारणतः प्रचलित लगभग सभी छन्दों को अपनाया है ।" नवमसर्ग में छन्दों का नूतन प्रयोग भी मिलता है। गुप्त जी की शैली में प्रसाद गुण पूर्णतः भरा पड़ा है । इसी से वे हिन्दी के लोकप्रिय कलाकार बन सके हैं। उन्होंने आश्चर्य वाक्यों द्वारा भी शैली को उत्कर्ष प्रदान किया है:—

मेरी कुटिया राजभवन मन भाया।'

जैसे सुन्दर गीतों का समावेश कर उसे रस-सिक्त बना दिया है। मनःस्थिति का भी स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है:—

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।

इस प्रकार कवि ने अपनी सरस 'साकेत' रचना को प्रबन्धात्मक शैली में सुचारुता प्रदान की है और शैली का उत्कर्ष भी साकेत में अक्षुण्ण है।

प्रश्न ८—गीति-काव्य का विकास दिखाते हुए साकेत की गीति-काव्य की दृष्टि से समीक्षा कीजिये।

उत्तर—गीतिकाव्य का प्रादुर्भाव वैदिक काल से ही हो गया था। चारों वेदों के पुनीत मंत्र स्वरों के आरोहावरोह से गेय हैं। विशेषकर सामवेद तो संगीत का मूल स्रोत है। संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य का वैभव तो दर्शनीय था ही, हिन्दी-काव्य निधि भी उससे रिक्त नहीं। आदि कवि बाल्मीकि जी के मुखारविन्द से काम मोहित क्रौंच मिथुन में से एक के वध को देखकर जो करुणामय भाव प्रस्फुटित हुए, वे ही गीत बनकर लोगों की हृद्तन्त्री को झंकृत करते आ रहे हैं—

"मां निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः !'
यत्क्रौञ्चमिथुनादे कमवधीः काम मोहितम्"

हिन्दी साहित्य में भी गीतिकाव्य की परम्परा जयदेव के 'गीत गोविंद' को आदर्श मानकर चल पड़ी। गीत गोविन्द में भागवत् पुराण के आधार पर भगवान् कृष्ण की लीलाओं का अमर गायन है। उन्होंने संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली में जिस संगीत की सृष्टि की, वह हिन्दी साहित्य में नितान्त दुर्लभ है। जयदेव ने अपने दृष्टिकोण को स्वतः ही कोमलकांत पदावली में इस प्रकार व्यक्त कर दिया है:—

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो,
यदि विलास कलासु कुतूहलम्

मधुर कोमल पदावलीम्
शृणु तदा जयदेव सरसं पदम्।

जयदेव के इस संगीतमय आदर्श को सामने रख कर ही विद्यापति अवतीर्ण हुए। उनकी पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधा कृष्ण के चरणों में समर्पित हुई। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्मोद्‌गार और अपने काव्य में संगीत के साथ प्रादुर्भूत हुए। शुद्ध शृंगारिक धरातल पर लिखी गई तथा भावुक नारी हृदय को व्यक्त करने वाली विद्यापति की गीत-कविताएँ मधुर भाषा और रसिक भावों की दृष्टि से अपनी समता नहीं रखती। विरहिणी गोपिकाओं के मर्म की पीड़ा को अमर पद प्रदान करने वाली सूरदास की भाव-मग्न लेखनी ही उनसे इस क्षेत्र में टक्कर ले सकी है। तुलसीदास जी ने भी गीतिकाव्य की रचना की है, परन्तु रामकाव्यकार होने के कारण उन्हें वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकीं, जो राधाकृष्ण के मधुर और चंचल व्यक्तित्व के कारण विद्यापति, सूर आदि कृष्णकाव्यकारों को सहज ही प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार हिन्दी काव्य क्षेत्र में गीति-काव्य का प्रवाह प्रथम तो पूर्णरूपेण वेग से प्रवाहित हुआ और फिर क्रमशः उसका लोप होता गया और हिन्दी कविता ने अन्तर्जगत से निकलकर बाह्य जगत में विचरण करना आरम्भ किया। "वस्तुतः हिन्दी गीतिकाव्य का इतिहास उस सरिता का इतिहास है, जो भरपूर लहरा कर बीच में सूख गई। शृंगार काल में जो सामाजिक मरुस्थल मिला उसी में समाकर वह बीच बीच में अपने पूर्व अस्तित्व का आर्द्र परिचय कवित्त और सवैयों में देती रही। आधुनिक युग में वह फिर एक स्वतन्त्र सरिता के रूप में फूट पड़ती है मानों उसे अनुकूल भूमि मिल गई हो।" अभी तक भक्त कवियों ने जिन गीतिकाव्यों के माध्यम से उस अनन्त ब्रह्म की अर्चना की थी उसका मूल्यांकन रीतिकाल में न हो सका और सभी कविगण समाज सहित उन्मत्त पागलों की भाँति शृंगारिकता की ओर दौड़े। किन्तु युग ने काया पलटी, विचारों में भी परिवर्तन हुआ और कविगण इस नाम रूपात्मक

जगत के पीछे छिपे उस विराट रहस्य को जानने के लिये उत्सुक हो उठे। प्रकृति भी चेतन हो उठी और इस प्रकार छायावाद तथा रहस्यवाद के साथ ही साथ गीति-काव्य का भी जन्म हुआ।

यद्यपि अभिनव युग में सुश्री महादेवी जी, निराला तथा पन्त जी ने गीतिकाव्य की उमड़ती लता को यथेष्ट रूप से प्रभावित किया तथापि प्रबन्ध-काव्य में इसका सम्यक विकास न हो पाया था। गुप्तजी ने जब इस अभाव को देखा तो उनका मन उद्वेलित हो उठा और 'झंकार' में रहस्योन्मुख गीतों का संग्रह करने पर भी वे 'साकेत' में गीतों की लहरी प्रवाहित करने का लोभ संवरण न कर सके। उनकी लेखनी नवम सर्ग में गीत रचना करने के लिये मचल पड़ी, और फिर कवि ने उर्मिला के विरह-वर्णन में कुछ गीतों का आयोजन किया।

गुनगुनाकर गाने की प्रवृत्ति तो मानव समाज में प्रायः पाई जाती है। शिशु भी एकान्त में बैठकर अनजान में ही न जाने क्या-क्या गुन-गुनाता रहता है और समझदार व्यक्ति भी अपने हर्ष और शोक के भावों को गीतों द्वारा प्रकट किया करते हैं। अतः गीतों की लय में दुःख और सुख दोनों ही भावनाएँ परिस्थिति के अनुकूल कार्य किया करती हैं। गाना और रोना तो मानव-जीवन के प्रमुख अंग हैं, और फिर उसका निवास स्थान भी तो सुख और दुःख का नीड़—यह संसार है। मानव जीवन में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण सृष्टि में एक तान है—एक लय है जो अनादि काल से चली आ रही है और सृष्टि के अन्त तक रहेगी। तरु भी मर्मर रव से अपने भावों को अभिव्यक्त करता है। अतः उर्मिला के जीवन में भी गीतों की प्रमुखता है। उसका वियोगामय जीवन भी गानों के ताने बाने से बुना पड़ा है। वह अपनी व्यथा को भी इन्हीं गीतों द्वारा अभिव्यक्त करती है। साकेत में गीतों की महत्ता इस कारण भी दिखलाई पड़ती है कि उर्मिला के साथ ही साथ उनमें गुप्तजी के भावों तथा विचारों की अनुपम झाँकी मिलती है। फिर उर्मिला का चरित्र भी गीतों द्वारा अधिक विकसित और प्रस्फुरित दिखाई देता है।

उर्मिला जीवन के प्रांगण में मिलन और विरह की आँख-मिचौनी

खेलती है। मिलन के पश्चात् वेदना भरी विरह की अवधि प्रारम्भ हो जाती है परंतु उर्मिला को प्रिय के विरह में प्राप्त वेदना भी श्रेय प्रतीत होती है क्योंकि उसमें उसको मन-सा मानिक मिला है, जिसे वह तभी छोड़ेगी जब उसके प्राण-धनी उसे प्राप्त होंगे। उसके लिये तो मुग्धता सुध की जननी है और सुध पीड़ा की। वेदना में प्रिय की स्मृति उसे पल-पल पर सजग करती रहती है। फिर जिस स्थान पर लक्ष्मण रहते हैं, उसका तो कहना ही क्या? वह उसको उतना ही प्रिय है जितने प्राण। वह तो वास्तव में उर्मिला के लिये अर्चना योग्य पवित्र भूमि है। इसीलिये तो उर्मिला चित्रकूट को इस प्रकार सम्बोधित करती है—

"सिद्ध शिलाओं के आधार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार।"

वास्तव में वह गिरि गौरव युक्त था ही जहाँ पर धर्म-रक्षा के लिये, भाई का साथ देने के लिये लक्ष्मण ने अपनी नव-परिणीता उर्मिला को त्याग कर प्रयाण किया। यदि एडवर्ड अष्ठम ने अपनी पत्नी के लिए राज्य पर पदाघात किया तो उसके विपरीत लक्ष्मण ने भ्रात-स्नेह और धर्म-कर्म के लिये अपनी प्रेयसी का त्याग किया। कितना महान उत्सर्ग है। उर्मिला की प्रेममयी गीतात्मक अभिव्यक्ति से गुप्तजी की चित्रकूट के प्रति असीम श्रद्धा लक्षित होती है।

दीपक पर जलते हुए पतंग को देखकर उर्मिला को अपनी असहाय अवस्था का स्मरण हो आता है—वह लक्ष्मण का साथ देकर भी अपने प्रेम का पालन न कर सकी—राज्य भवन में ही वह प्रेम जोगिनी बनकर रह गई। पतंग के इस निस्वार्थ प्रेम को देखकर उसका अवरुद्ध कण्ठ गा उठता है—

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली,
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली, जिसका बस चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

भले ही कोई कितनी सहृदयतापूर्वक प्रेम का दीप क्यों न जलाए, परन्तु यह जगती हृदय की भावना को न देखकर बाह्याडम्बर से ही वास्तविकता का अनुमान लगाने की चेष्टा करती है। केवल उर्मिला के हृदय में ही बात नहीं सालती गुप्तजी को भी जगती की यह बात बहुत खटकती है, इसीलिये उर्मिला की वाणी में गुप्तजी का कण्ठ भी गा उठता है—

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती,
काम नहीं परिणाम निखरती,
मुझे यही खलता है, दोनों ओर प्रेम पलता है।

प्रिय को स्वप्न में देखने की भावना जागृत होते ही वह निद्रा का विचार करती है और इसीलिए वह दुखिया अनेक प्रलोभनों को अपनी स्वर-तन्त्री पर चढ़ाकर मधुर कण्ठ में निंदिया का आवाहन करती है। 'चन्दखिलौना' देने का प्रलोभन दिखाकर वह प्रिय दर्शन कर सकेगी इसी से उसका कण्ठ-स्वर गा उठा है—

आजा मेरी निंदिया गूँगी।
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर, चन्द खिलौना दूँगी।
प्रिय के आने पर आवेगी,
अर्द्ध-चन्द्र ही तो पावेगी।
पर यदि आज उन्हें लावेगी,
तो तुझसे ही लूँगी।
आजा मेरी निंदिया गूँगी!

इस जाग्रत दशा में प्रिय-मिलन को अप्राप्य जानकर स्वप्न में देख कर ही वह सन्तोष प्राप्त करेगी। उर्मिला यद्यपि विरहिणी है तदपि उसे तो प्रकृति का रम्य रूप ही प्रिय है, जिसमें एक चेतना, एक गति और एक प्रकार का स्पदन हो। आँधी, तूफान, प्रलय आदि उसको प्रिय नहीं। गुप्तजी की मनोवृत्ति भी इसी उर्मिला के चरित्र से स्पष्ट हो जाती है। वह दिवस की जड़ता से खीझ उठी है। आँधी, प्रलय का दूसरा रूप

है और इसीलिये तूफान पर उसका आक्रोष है। अपने अश्रुओं को घन सदृश्य देख कर उर्मिला को उन पर सहानुभूति होती है और वह उनसे अपनी घनिष्ठता को सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा करती है। उर्मिला बादलों को अपनी मधुर-ध्वनि से गायन कर बरसने का आदेश देती है, क्योंकि फिर तो बादलों में और उसके अश्रुओं में होड़ मचेगी।—

बरस घटा, बरसू मैं संग,
सरसें अवनी के सब अंग;
मिले मुझे भी कभी उमंग,
सब के साथ सयानी।
मेरी ही पृथ्वी का पानी।

कभी-कभी तो उर्मिला का स्वर ताल प्रकृति के चंचल रव की भाँति ध्वनित होने लगता है। उसके उस मधुर गान को सुनकर ऐसा जान पड़ता है मानों नदी की कल-कल ध्वनि को सुनते हुए उसके पास आनन्द मग्न विश्राम कर रहे हों। शरद् में नदी स्वच्छ हो जाती है। उर्मिला-शरद्कालीन सरिता की धारा को देखकर मुग्ध हो उठती है और उसका कण्ठ-स्वर गा उठता है—

सखि, निरख नदी की धारा।
ढलमल-ढलमल चंचल अचंल, झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्थल भरके,
उछल-उछल कर, छल-छल करके,
थल-थल तरके कलकल धरके,
बिखराता है पाता!
सखि, निरख नदी की धारा!

प्रस्तुत गीत में गुप्त जी की कुशलता भी चित्रवत रंजित दिखाई देती है। नदी की कलकल ध्वनि के अनुरूप ही गीत की भाषा भी ध्वनित होती हुई आगे बढ़ रही है। वस्तुत: ध्वनि की अनुकरणात्मकता का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। समस्त गीत में भाषा ध्वनि का अनुगमन

करती हुई बढ़ती चली जाती है। "ढलमल ढलमल, चंचल अचँल" तो तरङ्गित जल का स्मरण दिलाता है और झिलमिल तारे नेत्रों के सन्मुख सरिता पर अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हुए तारों का चित्र उपस्थित करते हैं। 'कलकल' शब्द से श्रवण भी नदी से गुंजित होने लगते हैं।

अपने चतुर्दिक वातावरण में उल्लास और उमंग की सुगन्ध पाकर प्रत्येक व्यक्ति का हृदय तरङ्गित हो उठता है, यह तो स्वाभाविक ही है, परन्तु विवश और दुःखियन के लिये ऐसा दृश्य उनकी वेदना और टीस को और भी प्रेरित करता है। परन्तु उर्मिला के लिये लक्ष्मण के बिना होली आदि के हास-विलास के अवसर सभी समान हैं, फिर भी अन्ततोगत्वा वह मानव-प्राणी वर्ग में ही सम्मिलित हैं, न कि वह कोई देवी शक्ति है। हाँ, मानव रूप में भले ही रही हो। अतः अन्य व्यक्तियों को होली के अवसर पर आमोद-प्रमोद में लीन देखकर उनके हृदय में भी भावनाओं का जागरण स्वाभाविक होता है—परन्तु उसके लियें तो-

"विधि के प्रमोद से भी विनोद विषाद है"

परन्तु फिर भी विरहिणी उर्मिला लक्ष्मण को उनके पद से च्युत नहीं करती बल्कि कर्त्तव्यारूढ़ होने के आदेश देकर लौट जाने को कहती है। ऐसे अवसर पर स्वाभाविक रूप से उसका व्यक्तित्व गीत-रचना कर बैठता है और वह भी गा उठती है।—

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल रहूँ मैं सुध करके रोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में रोती ।।
मानती हूँ तुम मेरे साध्य।
अहर्निशि एक मात्र आराध्य।।
साधिका मैं भी किन्तु अबाध्य, जागती होऊँ या सोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती ।।

और अन्त में उर्मिला उन्मादिनी की भाँति विरह में पागल हो उठती है। कभी उसे भाव होता है मानो प्रिय उसके पास ही आ गये हैं तो वह अपने आप को भूलकर प्रियमयी बन जाती है, फिर सचेत हो

जाती है और अपनी दशा को जान कर दुःखित हो उठती है। इस प्रकार विरह जनित आकुलता की कड़ियों के जाल में फंसकर किसी प्रकार भी हृदय को शान्त न पाकर वह अपनी सूक्ष्म तूलिका द्वारा चित्र को अंकित कर अपनी हृदयस्थ-व्यथा को दूर करना चाहती है। यदि कभी वह उन्मत्त की भाँति प्रलाप कर उठती है तो दूसरे ही क्षण गान के द्वारा अपने शोक को कम करती है। वह सखी को तूलिका लाने का आदेश देती हुई गा उठती है :—

लाना, लाना, सखी, तूली !
आँखों में छवि भूली !
जब जल चुकी विरहिणी बाला,
बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुंची विरही मतवाला, सती हीन ज्यों शूली।
लाना, लाना, सखी तूली !
झुलसा तरु मरमर करता था,
झट निर्झर झरमर करता था,
विरही हरहर करता था, उड़ती थी गोधूली।
लाना, लाना, सखी तूली !
ज्यों ही अश्रु चिता पर आया,
उग अंकुर पत्तों से छाया,
फूल वही वदनाकृति लाया, लिपटी लतिका फूली !
लाना, लाना, सखी, तूली !

इस प्रकार साकेत के गीत उर्मिला की विरह-वेदना को उचित प्रकार से प्रकट कर काव्य-रसिकों के हृदय में उसके प्रति समवेदना के भाव को उद्दीप्त करते हैं। इसके साथ-साथ साकेत-प्रबन्ध काव्य के गीतों में गुप्तजी की प्रकृति-प्रियता, ग्रामीण-जीवन का मोह और कला-प्रियता विशेषरूप से लक्षित होती है। वस्तुतः वे गीत उर्मिला के ही नहीं गुप्त जी के जीवन और चरित्र से पूर्णतः संबद्ध हैं। इन्हीं कारणों

से साकेत में गीतों का महत्त्व विशेषरूप से बढ़ गया है। प्रबन्ध-काव्य में गीतों की योजना करने में गुप्तजी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यही तो उनकी बुद्धि की विशालता और कुशाग्रता का प्रमाण है। अपने समय में उन्होंने हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य में गीतों के खटकते हुए अभाव को असफलता के साथ पूर्ण किया है। काव्य में समाज की कल्याण कामना की ओर उनकी कवि कल्पना अशान्ति रूप से उन्हें प्रेरित करती रही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति की साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसी व्यक्ति—साधना का गान उन्होंने अपने गीतों में किया है—वह साधना जो व्यक्ति के अहं-भाव को, स्वार्थ को चूर्ण-चूर्ण करके समाज के लिये उसे अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध करने में समथँ हो सकती है। गुप्त जी की कीर्ति से अभिभूत होते हुए अधिक कुछ न कह कर इतना कहना ही पर्याप्त है कि—

"विजन तुम्हारा, आज बजे इक तारा"

प्रश्न ९—"कला कला के लिए, कला जीवन के लिये" इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये गुप्त जी के मत की समीक्षा करते हुए उनके काव्य की इसी आधार पर आलोचना कीजिये।

उत्तर—मानव अपने व्यक्तित्व के विकास में जिन स्वाभाविक आवश्यकताओं की खोज पाता है उसके लिये वह अपने से अतिरिक्त समाज के सम्पर्क में आता है। बाह्य जगत् के संपर्क में आने के कारण वह अनेक परिस्थितियों के आघातों प्रत्याघातों का शिकार बनता है, जो कभी-कभी मानव हृदय की चित्रपटी पर चिरकाल तक चित्रित रहते हैं और आगे चल कर मूल्यवान होकर साहित्य-गुणों से सम्पन्न होते हैं। सामान्य व्यक्ति तो इन आघातों-प्रत्याघातों को विशेष मूल्याङ्कन नहीं कर पाता, किन्तु कवि की अपरिमित कल्पना सामान्य को भी विशेष बनाकर अमूल्य बना देती है। साधारण मनुष्य की बुद्धि में चन्द्रमा केवल 'प्रकाश' प्रदान करता है परन्तु जानकी के मुख की समता करने के लिये कलाकार ही उसका दर्शन कर पाता है, और चन्द्रमा में विशेषता का मूल्याङ्कन करता है। साधारण व्यक्ति किसी वस्तु का

परिमित मूल्य आँकता है तो असाधारण कलाकार प्रत्येक वस्तु का असाधारण और अपरिमित मूल्याङ्कन करता है।

कला चन्द्रकला की भाँति असीम और अपरिमित की कल्पना रूपी कुमुदिनी का अनुभूति के करों से स्पर्श करती है। उस अनुभूति करों को स्पर्श करने की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। शरद की पूर्णिमा का चन्द्रमा रात्रिकाल में पूर्ण कलाओं के साथ आकाश और भू-मण्डल पर कौमुदी का विस्तार करता है; वही चन्द्रमा भिन्न तिथियों में अंश रूप कलाओं को लेकर उदित होता है; वही चन्द्रमा दिन के समय सर्वथा निस्तेज रूप में भी दिखाई देता है। इसी प्रकार कला भी विकसित होती है। अपरिमित की उक्त कल्पना जब अपरिमित की अनुभूति से समन्वित हो जाती है, तब कला अपने पूर्ण रूप में प्रगट होती है। जब कल्पना अपरिमित रूप में और अनुभूति आंशिक रूप में संघठित होती है तब कला का आंशिक स्वरूप ही प्रस्तुत होता है। और जब अनुभूति का अंश लेशमात्र भी नहीं रह जाता तथा केवल कपोल-कल्पित कल्पना का ढाँचा ही रह जाता है तब एक-मात्र कला देवी अपनी शक्ति से शून्य होकर ज्योत्सना-विहीन चन्द्रमा की तरह अलग, मन्दिर से दूर, निस्तेज पड़ी रहती है।

अभिनव युग के छायावादी कवियों की प्रवृत्ति अपरिमित कल्पना की ओर ही अधिक रमी दिखाई देती है। पंतजी ने 'छाया', 'स्याही की बूँद' और निराला जी ने 'यमुना के प्रति' आदि कविताएँ उच्च कल्पना के बल पर ही की हैं। इन कविताओं में यदि अनुभूति की अपरिमित योजना की जाती तो सम्भवतः इनसे अलौकिक और पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती। कल्पना पर आश्रित कविता में अमरता और सजीवता अधिक समय तक नहीं रहती, इसके साथ ही उच्च कल्पना की उड़ान का श्रम-परिहार करने के लिये किसी ऐसे घौंसले की आवश्यकता है, जिससे पूर्ण विश्राम प्राप्त हो सके। काव्य में अनुभूति का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है उतना कल्पना का नहीं। कल्पना में केवल स्वप्न और कामना है और अनुभूति में वास्तविकता और निश्चित

रूप-रेखा है। कल्पना वह स्वर्ण पर्वत है जो सूर्य के प्रातः और संध्या-कालीन प्रकाश से नयनाभिराम शोभा प्राप्त करता है और अनुभूति वह रोटी का टुकड़ा है, जिससे क्षुधा मिटती है। कल्पना और अनुभूति के समागम से ही वास्तविक कला का उद्‌भव होता है। अनुभूति-हीन कविता केवल कला-प्रदर्शन मात्र होती है। उस कविता का जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। उस काव्य-कला का निर्माण केवल कला के लिये होता है और Art for art's Sake की भावना उसमें निहित रहती है।

गुप्तजी के अनुसार कला सोद्देश्य निर्मित होती है। उसमें जीवन-हित की भावना भी निहित होनी चाहिए। कोरा यथार्थवाद कला की दृष्टि से हेय है। किसी वस्तु को कल्पना के सहारे चित्रित कर देना कला नहीं। जो कला को कला के लिये मानते हैं वे उसको उसके पद से हटाकर उसे स्वार्थिनी सिद्ध करते हैं। उसका सम्बन्ध तो जीवन से है :

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही।
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

भारत-भारती में गुप्तजी ने काव्य-कला के सम्बन्ध में अपने मत को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥"

वस्तुतः तथ्य तो सत्य ही है कि 'मनोरंजन' 'सुन्दरम्' की ओर प्रवृत्त करे और उपदेश का मर्म 'सत्यं' और शिवं' की ओर। किन्तु गुप्तजी स्वयं इसका पालन करने में असमर्थ हुए हैं। 'भारत-भारती' के अनेक स्थलों में तथा 'हिन्दू' प्रायः सर्वत्र उनकी उपदेशात्मक वृत्ति ने

उन पर विजय प्राप्त करली है। उन्हीं की कृतियों से उनकी उपदेशात्मक वृत्ति के प्रति विरोधी भावना लक्षित होती है। वस्तुतः 'हिन्दू' की भूमिका में उनका 'कलावाद' के प्रति स्वतंत्र मत मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "कवित्व स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वर्ग के छाया-पथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्गङ्गा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे, लेखक उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबंदी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति गंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हर गंगा' गा सके तो वह इतने से ही कृत-कृत्य हो जायगा।" इस अनुच्छेद से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि का काव्य-कला की रचना करने का उद्देश्य राष्ट्र अथवा जाति के कल्याण के हेतु है। कवित्व की पथ्य को मधुरिमा प्रदान कर सकता है। गुप्तजी की कविता यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य है। अपनी कला-शाला में कवि ने जीर्णोद्धार ही नहीं किया, वरन् मूर्तियों को जोड़ तोड़ कर नया रंग भर दिया है। उसने उसमें 'भारत-भारती की प्रतिमा बनाई है।' भारत माता के अनन्य पुजारी ने जहाँ एक ओर जयद्रथवध, अभिमन्यु, अर्जुन और कृष्ण द्वारा किया हुआ संग्राम रचा है, वहीं दूसरी ओर बौद्धों के 'अनघ' और 'यशोधरा' सजाए गए हैं। राम और उनके चरित्र का तो प्रधान स्थान है, जिनमें स्त्री जाति का तेज तपे हुए स्वर्ण की भाँति उद्दीप्त करती हुई उर्मिला-भवन को प्रकाशित कर रहा है। उन्होंने कला-मन्दिर में जिन ग्रन्थ-रत्नों को सुसज्जित किया है वे मानव-समाज से सम्बन्धित हैं। उन्हें काव्य-कला के निर्माण की प्रेरणा मानव-प्रेम से ही मिली है। उसी के दैन्य ने उनके हृदय में करुणा का संचार करके उनकी काव्य-कला की सेवाओं का नियोजन किया है। कवि राष्ट्रीय शंख-ध्वनि के साथ काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। उनकी दृष्टि अतीत की ओर ही रही है क्योंकि वर्तमान संघर्ष में उन्हें उद्बोधन के लिये कोई सामग्री प्राप्त नहीं हुई। अतीत की कथाएँ हृदय में वीरता के प्रति प्रेरित करती हैं, पतन के गर्त से उठने

की प्रेरणा देती हैं, मृत-प्रायः शिराओं में नव-स्पन्दन भरती हैं, वर्तमान से सामना करने की शक्ति प्रदान करतीं हैं और भविष्य के लिये ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं:—

वर्तमान यह आयोजन है जिस भावी जीवन का।
कुछ अतीत संकेत मिले तो, अधिक काम इस जन का।।

जिस भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक विचारों को लेकर गुप्तजी अवतरित हुए थे, उनमें अतीत की गाथा गाने की अलग प्रेरणा थी। अतः उन्होंने जब 'जयद्रथ-वध' की रचना की तो उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा— "हिन्दी में आज ऐसी पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता है जिनके द्वारा पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन प्राप्त हो।" इसका संकेत उन्होंने 'भारत-भारती' में भी इस प्रकार किया है—

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी॥

अतः गुप्तजी की दृष्टि में अतीत, वर्त्तमान और भविष्य का पथ-प्रदर्शक और प्रगति के मार्ग का प्रोत्साहक है। प्रत्येक रचना में कवि सोद्देश्य बढ़कर संस्कृति, जाति और राष्ट्र का उत्थान करता है। "रंग में भंग" प्रथम रचना में कवि ने अपने नायक बूँदी—नमेश वीरसिंह के अनुज लालसिंह की विचित्र अपमान-भावना और उसके फलस्वरूप उत्पन्न शोकजनक काण्ड का चित्रांकन किया है। इसमें पारस्परिक फूट की वह झलक है, जो राजपूतों के गौरव के लिये कलंक रही है, परन्तु जिसको लेकर भी नारियों के सतीत्व की झलक दिखाने में कवि ने उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है।

'भारत—भारती', 'हिन्दू', 'गुरुकुल', 'शक्ति' और 'वैतालिक' स्पष्टतः हिन्दू-समाज के उदबोधनार्थ लिखे गये हैं। 'जयद्रथवध' में भी श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति उपदेश के व्याज से इसी कार्य की साधना की गई है। 'भारत भारती' की रचना नैराश्यपूर्ण वातावरण में होती है। कवि बाह्य जगत की परिस्थिति को देखकर क्षुब्ध अवश्य होता है परन्तु वह

निराशा के ग्रास में नहीं पड़ जाता। उसके हृदय में आशा का स्पन्दन है और क्रान्ति की ज्योति जिसकी चमक में वह प्रगति का संदेशा लेकर सामने आता है। गुलाम जीवन के आवरण को उतार कर फेंक देने की उत्तेजना व्याप्त करना ही उसका मात्र उद्देश्य है। वह 'भारत-भारती' के रूप में क्रान्ति का आह्वान लेकर प्रस्तुत होता है। पर इस क्रान्ति में न तो विद्रोह के रूप में धाँधली की धूमिल रेखा है और न अविश्वास की प्रतिच्छाया। यहाँ है आशामय विश्वास, भूत का आदर्श तथा है भविष्य का संदेश। कवि ने अपने अतीत के स्वर्ण-प्रकाश में जीवन के आदर्श खोजने का संदेश दिया है। भूत के आदर्श पर वर्त्तमान समस्या को सुलझाना ही कवि का उद्देश्य है। और भविष्य के लिये उसने आशामय संदेश दिया है और एक योजना उपस्थित की है। जिसके आधार पर हमारा आज का जीवन पूर्व जीवन की झाँकी बन सके। भूत की भित्तियों पर वर्तमान को समझना तथा भविष्य भवन खड़ा करना उसका उद्देश्य है। कवि भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्याओं के समाधान में कहाँ तक सफल हुआ है इसके विषय में शांतिप्रिय द्विवेदी जी का कहना है:- 'एक प्रभावशाली नेता अपने व्यक्तित्व द्वारा हिन्दी और हिन्दी जनता का जितना उत्थान कर सकता है वही कार्य अकेले भारत-भारती ने किया है।'' कवि राजनैतिक बाधाओं को भी उपेक्षणीय दृष्टि से देखता है, उनकी उसको परवाह नहीं, क्योंकि वह तो स्वच्छन्द है:—

'स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो।
जग जाएँ तेरी नोक से सोए हुये हों भाव जो॥''

'जयद्रथ-वध' आदर्शवादी कलाकार की जीवन-संदेशिणी अमर कृति है जिसमें कवि ने उच्च स्वर में पूर्वजों के चरित-गान का उपक्रम किया है। इसमें कुछ ऐसे जीवन-संदेश है, जिनको अपनाकर सफलता के सोपान पर चढ़ा जा सकता है। इसमें कौरवों और पाण्डवों के रण का अंश रूप है जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ। इसकी कथा 'रणधीर द्रोणाचार्य कृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह' के खंडन से प्रारम्भ होती है। 'उत्तरा' के चरित्र की उसमें विशेष रूप से विकसित झाँकी मिलती है। इसमें कवि

ने स्वत्व-रक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उसका लक्ष्य है कि:-

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है॥

पंचवटी में भी कवि ने जीवन संदेशों को प्रस्तुत कर सफलता के सोपान को खड़ा किया है। वह आदर्शवादी है, कलाकार है जो कला को जीवन से घनिष्टतम रूप में संबद्ध मानता है। उनकी दृष्टि में कला का श्रेय इसी में है कि वह जीवन के लिये उसकी प्रगति, सफलता और उन्नति के लिये कुछ प्रदान करे। जिस भित्ति पर 'पंचवटी' के काव्य-भवन का निर्माण हुआ है वह आदर्श रूप में अपनाने योग्य है। वह जीवन-सागर को पार कर जाने का मात्र संबल है। 'पंचवटी' में पहले पहल प्रकृति ने स्वतन्त्र स्थान प्राप्त किया है। उसमें हास परिहास के बीच जीवन की कठोर वास्तविकता को सहने में सक्षम राम, लक्ष्मण और सीता का चरित्र गार्हस्थ्य जीवन की ऐसी उज्ज्वल झलक देता है कि वन भी स्पृहणीय हो उठा है। मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर काव्य के पात्रों के कार्य-कलाप होते हैं। 'पूज्यपिता के सहज सत्य' पर श्री राम का त्याग तो अपूर्व है ही पर अपने सर्वस्व की छाया बन कर लक्ष्मण का तापस-वेश भी कम आकर्षित नहीं। कर्तव्य के नाम पर लक्ष्मण का बन्धुत्व प्रेम वस्तुतः नैसर्गिक-प्रेम का आदर्श है जिसके समक्ष भाई-भाई के परस्पर वैमनस्य का अन्त किया जा सकता है। विपत्तियों के तूफानी-प्रहार में भी लक्ष्मण विचलित नहीं होते। सूर्पनखा के रूप में एक तूफान आता है परन्तु वह उससे प्रभावित न होकर आत्मसंयम के उज्ज्वल आदर्श को ही प्रस्तुत करते हैं। पंचवटी का कवि आशावादी है। प्रगति के पथ की विघ्न बाधाओं से डरकर वह दूर नहीं भागता, वरन् मार्ग के रोड़ों को कुचल कर आगे बढ़ने में ही आदर्श और कल्याण का आभास पाता है। विपत्तियों का जो वीरता से सामना करता है वस्तुतः वही श्रेय का भाजन बनने योग्य है:—

"जितने कष्ट कंटकों में हैं जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव गन्ध उन्हें उतना ही यत्र तत्र सर्वत्र मिला॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पंचवटी में एक साथ कितने ही आदर्श उपस्थित किये गये हैं। जीवन में सफलता प्राप्ति के हेतु तथा विपत्तियों के विरुद्ध लोहा लेने के लिए पंचवटी नामक रचना धैर्य, त्याग और वीरता का अमोघ अस्त्र प्रदान करती है।

तदनन्तर 'अनघ' गाँधी जी के पूर्ण प्रभाव से आच्छादित दृष्टिगत होती है। उसका नायक 'मघ' गाँधी जी का ही संक्षिप्त संस्करण रूप है। वह सत्याग्रही वीर है जो शत्रु से भी प्रतिशोध नहीं लेता। इसमें राज्य की महारानी द्वारा 'मघ' के औचित्य की प्रशंसा की गई है। इसमें मानवता के प्रति उदार दृष्टिकोण के साथ राष्ट्रीय भावना भी पूर्णतः समाविष्ट है। यहाँ पर आकर कवि केवल भारतीय भावनाओं से ही प्रेरित नहीं रहता, अब उसका लक्ष्य मनुजता हो जाता है। काव्य के आरम्भ का आदर्श वाक्य ही भावों की विशदता को स्पष्ट कर देता है:—

"न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है, इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥"

कवि फिर देश की महाभारतीय संस्कृति के प्रति उन्मुख होता है और 'त्रिपथगा' प्रस्तुत करता है। जिसमें 'वन-वैभव', 'बक संहार' और सैरन्ध्री तीन खण्ड काव्य सम्मिलित हैं। 'अनघ' बौद्ध कथानक कथा, जिसमें गाँधीवाद की सामयिक आवश्यकता का समाधान मिल सकता था, क्योंकि बौद्ध धर्म और गाँधीवाद की मानव-पूजा में बहुत कुछ साम्य है। पुनः कवि हिन्दू-राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख हुआ और महाभारत के कथानकों का चयन किया। 'वन-वैभव' में युधिष्ठिर के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित है। गंधर्वों के कौरवों को वंदी वना लेने पर अर्जुन, भीम आदि कौरवों की ओर से लड़ते हैं। चित्ररथ जैसे मित्र से भी अर्जुन को कर्त्तव्य-वश लड़ना पड़ता है। युधिष्ठिर ने उस समय जो कुछ कहा है वह वास्तव में भारतीय राष्ट्र की हिन्दू और मुस्लिम दो जातियों के लिये अनुकरणीय है:—

"जहाँ तक है आपस की आँच। वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच॥
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच। गिने तो हमें एक सौ पाँच॥
कौन हैं वे गंधर्व गँवार। करें जो आकर यह व्यवहार॥"

'बक-संहार' में कुन्ती के कर्त्तव्य पालन और वात्सल्य-भावना के संघर्ष का चित्र है। अतिथि धर्म की व्याख्या भी उसमें अति सुन्दर ढंग से की गई है। परिवार के सदस्यों में जब तक राक्षस के यहाँ जाने के लिये विवाद होता है तो उसका करुण दृश्य देख कुन्ती अपने पुत्रों को जाने की स्वीकृति देती है। स्वीकृति के साथ वात्सल्य भाव उमड़ता है। दो भावों में प्रस्तुत संघर्ष का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र है फिर सिद्धराज में मध्य कालीन वीरों की कथा है। उसमें जहाँ क्षत्रिय शौर्य का प्रदर्शन है, वहाँ अन्त में उसके पतन की मीमाँसा भी है:—

किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे हैं हम आज आपस में जूझ के।
× × +
ऊँचे हम अब भी, परन्तु नीच मानना
औरों को हमारा, हमें नीच दिखलायगा!

इस प्रकार कवि ने भारत की दुर्बलता अंकित करते हुए भारतीय आर्यराष्ट्र की कल्पना की है।

'साकेत' में गुप्तजी की काव्य कला का चरम विकास हुआ है। कवि अपनी अवस्था की भारतीय मति के अनुसार अधिकाधिक जगत् जंजाल से विरक्त होकर इष्टाराधन की ओर अग्रसर होता है, यद्यपि अपने कवि कुल के लाँछन को परिष्कृत करने के निमित्त उर्मिला की सृष्टि की प्रेरणा आरम्भ से ही है। उसमें उपेक्षणीय नारी की प्रतिष्ठा अवश्य है परन्तु फिर भी साकेत में कवि-हृदय वैष्णव भक्ति से ओत-प्रोत है। उसमें राम को 'मानव' सा चित्रित करने का उद्योग किया गया है, परन्तु वह दुविधा में है :—

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या,
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?"

वैसे साकेत का उद्देश्य राम गुणगान नहीं, उपेक्षणीय उर्मिला के चरित्रका विकास करना है। आदर्श नायिका उर्मिला का चित्राँकन करते हुए कवि भारतीय संस्कृति को नहीं भूला है। इसी में उसका गौरव है और यही उसकी प्रमुख विशेषता है। साकेत में गुप्त जी ने राम-रावण युद्ध को ही सांस्कृतिक प्रश्न बना दिया है। यह एक राजा का दूसरे राजा से युद्धमात्र नहीं है वरन् आर्य संस्कृति का कौणप संस्कृति से सघर्ष और उस पर विजय है। राम की विजय कवि के लिये अपनी संस्कृति की विजय है। भरत-लक्ष्मण एवं अयोध्यावासी सीता को राम-पत्नि के रूप में ही नहीं देखते वरन् भारत-लक्ष्मी अथवा आर्य संस्कृति के रूप में भी।

विघ्नों और विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन और उपयोग करना तो पाश्चात्य का आदर्श है, परन्तु भारतीयों का आदर्श दुःखों पर विजय प्राप्त कर सुखों का उपभोग करना ही नहीं, वरन् सुख की चरम अनुभूति त्याग में है। इसी से नर ईश्वरता को प्राप्त करता है और भूतल स्वर्ग बन जाता है। यही तो जीवन का आदर्श है और यही है साकेत का सन्देश। इसी से साकेत में धार्मिक, सामाजिक पारिवारिक, राजनैतिक आदर्शों का सुन्दर सामँजस्य हुआ है। साकेत में गार्हस्थ-चित्रों में भारतीय सँस्कृति का परमोज्ज्वल रूप दृष्टिगत होता है। परिवार समाज का ही घनीभूत रूप है। समाज का आदर्श है परिवार सदृश होना और परिवार का आदर्श है समाज सम होना, साकेत का समाज ऐसा ही है:—

"एक तरु के विविध सुमनों से खिले।
पौर जन रहते परस्पर हैं मिले॥"

साकेत युग की देन है। अतः युग की समस्यायें और उनका समाधान स्वतः ही प्रकट हो गये हैं। नीति सम्बन्धी सँदेश वहाँ यथेष्ट मात्रा में मिलता है :— राज्य है प्रिये भोग या भार।
बड़ों के लिये बड़ा ही दण्ड।
प्रजा की थाती रहे अखण्ड।

वस्तुतः राजा प्रजा का सेवक होता है। उसका कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। यदि राज्य को भोग का साधन मान लिया जाय तो अनिष्ट की व्याप्ति ही सम्भव है। अतः राजा का प्रजा के हित के लिये कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें कवि ने गाँधीवाद को अपना कर सत्य और अहिंसा पर यथाशक्ति बल दिया है। इसमें राज्य के आदर्श रूप को खड़ा किया गया है। और कवि है भी आदर्शवादी।

उर्मिला की भाँति यशोधरा को प्रकाश-पथ पर लाने के हेतु 'यशोधरा' काव्य का प्रणयन हुआ है। युगों की उपेक्षित नारी का कण्ठस्वर इसमें फूट पड़ा है, जिसमें से आशावाद की जीवन-रसायन प्रवाहित हो उठी है। इस रसायन को प्राप्त कर निराशा के निबिड़ अन्धकार में डगमग भटकता हुआ पथिक जीवन में आशा का सँचार पाता है और अपने जीवन को सफलीभूत देखने का सौभाग्य प्राप्त करता है। 'यशोधरा' का कवि वैष्णव भावना का पुजारी है। उसके सन्देशों में आशा का प्रकाश मिलता है, जिससे नैराश्य के घनीभूत अन्धकार को भी दूर किया जा सकता है। जीवन में सुख-दुख का नाटक यावत् जीवन खेला जाता है। दुख की दैत्या को देखकर जो भयभीत हो उठते हैं वे सुख रूप नर्तकी के सौन्दर्य रस का पान भी करते हैं। इसी से कवि ने यशोधरा में न्यायी पुरुष की ओर सँकेत किया है:—

> "किन्तु प्रकृति के पीछे भी तो एक पुरुष है न्यायी।
> आशा रखो आशा रखो आशा रखो भाई।"

यदि शून्य गगन आशा पर टिका रह सकता है तो मानवता को निराश होने का कोई कारण ही नहीं। गौतम यदि निराश होकर सँसार से विरक्त हो जाते हैं तो यशोधरा 'निज बन्धन को सम्बन्ध सयत्न' बनाने की चेष्टा में संलग्न है। आशा की सुनहली चादर में लिपटा हुआ उसका जीवन 'एक पुरुष है न्यायी' को मात्र सम्बल मानता है। यही तो जीवन का अमर सन्देश है जिसको गुप्त जी ने अपनी कला द्वारा निर्मित किया है। साकेत, यशोधरा सिद्धराज और द्वापर में जीवन-निरीक्षण और जीवन-विचार पूर्व के अन्य काव्यों की अपेक्षा, अधिक है।

द्वापर में श्रीकृष्ण चरित का वर्णन किया गया है। इस कृति की रचना रामचरित्र और बुद्धचरित्र के पश्चात् हुई है। 'विधृता' जैसी सामान्य नारी की भी द्वापर में महानता प्रदर्शित की गई है। और इस प्रकार असाधारणता से साधारण महानता से लघुता की ओर कवि की प्रवृत्ति रही है। वह निरादृता और पीड़िता है जो भगवान के दर्शनों का अधिकार भी नहीं रखती और पति द्वारा ताड़ित होकर अन्त में शरीर त्याग देती है। इसके साथ अन्य चरित्रों का भी विकास हुआ है परन्तु चरित्र-विकास की अपेक्षा उसमें युग की समस्याओं के समाधान की प्रवृत्ति अधिक है। उसमें क्रान्ति के लिये आत्म-स्वीकृति रखी गई है और राधा के द्वारा देवियों को भी उसके लिये तैयार होने का विधान किया गया है। क्रान्ति दैनिक जीवन का अँग मानी जाय, इस पर अधिक बल दिया गया है! उसमें आधुनिक बुद्धिवादी युग की समस्त समस्याओं को छूने का प्रयास किया गया है और क्रान्ति सर्वतोमुखी क्रान्ति उसका ध्येय है।

कवि को जब अपने वयोधिक होने पर मानस में परिवर्तन विदित हुआ और मानव के पतन का दृश्य चारों ओर देखा तो 'नहुष' की सृष्टि हुई। इसमें कवि ने जीवन की ही शाश्वत समस्या को समझा है। मानव उत्थान करके भी कैसे पतन की कहानी प्रारम्भ कर सकता है और पतन में भी वह अपने उत्थान का संकल्प कर सकता है—यही मानव-रूप 'नहुष' का विषय है। मानव ने अपने गुणोबल से स्वर्ग-राज्य पाया, वह वहाँ से अपनी छिपी दुर्बलता के कारण गिरा। इसीसे गुप्तजी ने आशावादिता और जीवन के सत्य को रखकर नहुष के पतन की सार्थकता सिद्ध की है और एक नवीन दृष्टिकोण प्रेस्तुत किया है—

> "गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
> में ही तो उठा, था, आप गिरता हूँ जो अभी।
> फिर भी उठूँगा, और बढ़के रहूँगा में।
> नर हूँ, पुरुष हूँ, मैं चड़के रहूँगा मैं।"

वस्तुतः पतन से बढ़कर उत्थान का संदेश नहुष ने दिया है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्तजी की वरद वाणी ने जीवन के प्रत्येक अङ्ग को स्पर्श किया है। उनकी कला जीवन के हित के लिये निर्मित है। यदि कला कला के लिये होती और उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं तो कला का चित्रण निष्प्रयोजन कवि का व्यर्थ प्रयत्नमात्र है। अतः कला, मानव-जीवन के विकास में जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उनकी पूर्ति करती है। क्योंकि—

"निज हेतु नहीं बरसता व्योम से पानी।
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।"

श्री शान्तिप्रिय दिवेदी जी ने "हमारे साहित्य निर्माता;' पुस्तक में अपनी लेखनी द्वारा अलंकृत किया था कि—"किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है, वही वर्त्तमान कविता में गुप्तजी का है। अतएव वर्त्तमान कविता के प्रधान और प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं।" वाणी की वरद् मंगल छाया सदा उनके ऊपर है।

———

प्रश्न १०—राम भक्ति शाखा का विकास दिखाते हुए उसमें साकेत का स्थान निश्चित कीजिये।

उत्तर—आदिम युग से ही मानव के मनःक्षेत्र में भक्ति-भावना का बीजांकुर पाया जाता है। मानव-मात्र में प्रत्येक देश और सभी कालों में यह प्रवृत्ति समान रूप से किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। अपनी इस प्रवृत्ति को क्रिया-रूप में परिवर्तित करने के लिये मनुष्य ने जो चेष्टाएं की हैं उन्हीं ने संसार के विभिन्न धर्मों-उपास्य देवताओं और उपासना की प्रणालियों को इतना लोक-प्रचलित बनाया है।

भारत में व्याप्त भक्ति-भावना के स्वर्णिम इतिहास के पन्नों को पलटने से ज्ञात होता है कि विष्णु की भक्ति का प्रचार भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में हुआ है। भागवत धर्म की परम्परा के अनुरूप विष्णु ने स्वयं ही वैष्णव-धर्म का उपदेश ब्रह्मा को दिया, और फिर ब्रह्मा से नारद ने उस धर्म का ज्ञान प्राप्त किया। नारद ने इस अलौकिक धर्म को

व्यासदेव जी से बताया और फिर धीरे-धीरे इसका सर्वत्र प्रचार होता गया। जिन भक्तों और प्रचारकों ने इस भक्तिभावना को विकासोन्मुख किया उनके जन्म से दक्षिण भारत ही श्रेय प्राप्त कर सका है। जिन महात्माओं ने विष्णु-भक्ति का दार्शनिक विवेचन और प्रचार किया उनमें से रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रधानतः उल्लेखनीय हैं। विष्णु को एकमात्र ब्रह्म मानते हुए भी इन प्रचारकों के सिद्धान्तों में परस्पर भेद पाया जाता है। भक्ति-भावना प्रचार के साथ-साथ अवतारों की संख्या भी क्रमशः छः, दस और चौबीस के रूप में बढ़ती गई। परन्तु उनमें से जिन अवतारों की लोकप्रियता हो सकी वे हैं राम और कृष्ण। इन्हीं को अपनी भक्ति का आधार मानकर हिन्दी-साहित्य में भक्ति की धारा प्रबल वेग से प्रवाहित हुई। सूरदास और तुलसीदास जैसे महाकवियों ने अपनी वरद्-वाणी द्वारा भक्ति की जिस विमल धारा को प्रवाहित किया, वह भक्तजनों की मानस-स्थली को आज भी रसप्लावित कर रही है।

उत्तरभारत में रामभक्ति का बीजांअकुर प्रस्फुटित करने का श्रेय एकमात्र रामानन्दजी को है। वैष्णव धर्म के आचार्य बनकर इन्होंने सम्पूर्ण देश में भ्रमण किया और अपने आराध्य सीताराम की भक्ति और उपासना का भरसक प्रचार किया। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे तथापि राम भक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही माने गये हैं। इन्होंने संस्कृत की कोमल-कान्त शब्दावली के साथ-साथ जन-समाज की भाषा में भी वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इनके सिद्धान्तानुसार जाति-पाँति के भेद का विचार किये बिना ही कोई भी व्यक्ति-भक्ति के पावन-प्राङ्गण का खिलाड़ी बनकर विजय प्राप्त कर सकता है। भक्ति में इस अभदेत्व की भावना होने के कारण समस्त प्राणी-वर्ग के लिये रामचरित-चिंता-मणि का द्वार खुला और उसमें से जनता ने पाया रामत्व के अमूल्य मंत्र को। फलस्वरूप जनता अत्यधिक संख्या में राम-भक्ति की विमल धारा में अवगाहन करने के लिये अग्रसर हुई। और भक्तों ने उनका शिष्यत्व प्राप्त करना आरम्भ किया। सर्वप्रथम

महात्मा कबीर ने रामानन्द जी से रामत्व का मंत्र लिया और निर्गुण सगुण से परे अपने राम की सृष्टि की। वह राम वेदान्तवादियों के राम से मिलता जुलता है। उनका राम न तो मुख रखता है और न माथा; न रूप रखता है और न कुरूप। कबीर के राम यद्यपि ब्रह्म के ही रूप में आते हैं तथापि वे तुलसी के से दाशरथि राम नहीं। उस राम का मर्म ही और है "दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" वे राम घट घट वासी हैं, चिन्तन और विचार का विषय है। उन्हें ज्ञानयोग के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वे राम सगुण राम से भिन्न निर्गुण राम हैं। कबीर का कहना है कि वह पुष्प-सुगन्ध की भाँति सबके भीतर समाया हुआ है, लोग व्यर्थ ही कस्तूरी के मृग की भाँति इधर उधर खोजते फिरते हैं। वह अनुभव का विषय है, तर्क से नहीं जाना जा सकता। उसकी आनन्दानुभूति गूँगे के गुड़ के समान है और केवल संकेत द्वारा ही समझाया जा सकता है। उसी राम रूप का स्मरण करते करते एकाकार हो जाना ही साधक का चरम लक्ष्य है। परन्तु राजनीतिक क्रान्ति के कारण जनता इस कठिन भाग को न अपना सकी। श्रद्धा या प्रेम किसी साकार ठोस वस्तु से ही किया जा सकता है; परन्तु कबीर ने निराकार, निर्गुण और अविगत भगवान् की उपासना करने का सन्देश दिया था, जिसको पाकर जनता संतुष्ट न हो सकी। हिन्दू-मुसलमामों के पारस्परिक वैषम्य को दूर करने के लिये उन्होंने खंडनमंडन शैली को अपनाया, जिससे जनता में और भी विरोध की भावना जागृत होने लगी। मूर्तिपूजा का खंडन मुसलमानी जोश से करते हुए इन्होंने निर्गुण और निराकार की छाया पकड़ने का आदेश दिया जो सामान्य और सरल हृदय जनता के लिये कठिन था फिर भी उनके भरसक प्रयत्न से हिंदू-मुसलमानों में कुछ शान्ति स्थापित तो हुई परन्तु उनके अशान्त हृदय को जो कुछ इष्ट था वह प्राप्त न हो सका। इस स्थिति में किसी साकार वस्तु की आवश्यकता थी, जिससे जनता प्रेम और भक्ति कर सन्तोष लाभ कर सके। भारतीय भक्त भगवान के लोकरंजन और लोक-रक्षक स्वरूप पर विशेष रूप से मुग्ध रहता है। कबीर ने भगवान का

लोक-रंजक और लोक रक्षक स्वरूप न अपनाया। वे केवल हिन्दू और मुसलमान विचारधाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने में लगे रहे। सूफी कवियों ने हिन्दुओं के घर की कहानियों को लेकर उनमें कल्पना का पुट देकर प्रेमगाथाओं की रचना की। रहस्य की भावना का भारतीय भक्ति सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं है। भारतीय भक्त ईश्वर की व्यक्त सत्ता से साक्षात्कार करना चाहता है। अव्यक्त पर उसे अविश्वास नहीं परन्तु अव्यक्त से साक्षात्कार चिन्तन द्वारा ही हो सकता है, जो जन-साधारण के लिये सुगम नहीं है। भक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है जो हृदय से उद्भूत है। जो वस्तु व्यक्त नहीं है उस पर अनुराग का टिकना प्रकृति-विरुद्ध है। प्रेम तो व्यक्त सत्ता के साथ ही हो सकता है। अतः तुलसी ने अवतरित होकर इस अभाव की पूर्णता प्रदान की।

परन्तु तुलसी से पूर्व सर्वप्रथम यदि काव्य में राम-संबन्धी सामग्री उपलब्ध होती है तो "बाल्मीकि रामायण" में। बाल्मीकि के प्रथम और सप्तम काण्ड तो प्रक्षिप्त माने गए हैं पर द्वितीय से षष्ठ काण्ड तो मौलिक और प्रमाणिक हैं। यही इसकी सर्व-प्रधान विशेषता है, जिसके द्वारा धर्म के यथार्थ रूप का परिचय प्राप्त हो सकता है। ग्रन्थ की रचना धार्मिक दृष्टिकोण से न होने के कारण अन्धविश्वास और भावोन्मेष से रहित है। उसमें राम के मानव रूप को ही अंकित किया गया है, और देवत्व की छाया-मात्र भी नहीं है। वे एक महापुरुष के रूप में अवश्य ही दृष्टिगत होते हैं, परन्तु अवतार रूप में नहीं। बाल्मीकि रामायण में वैदिक देवता ही मान्य हैं, जिनमें इन्द्र का स्थान कुछ ऊँचा है। इसके अतिरिक्त अन्य देवी-देवता कार्तिकेय तथा कुबेर, उमा और लक्ष्मी भी मान्य हैं। विष्णु और शिव का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु बाल्मीकि रामायण में विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है। और न राम अवतार के रूप में ही चित्रित है। वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त नायक हैं।

सिर्फ ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से राम अवतार के रूप में माने जाते हैं। इसी समय बौद्ध-धर्म प्रगति की सीढ़ियों पर चढ़ रहा था और बुद्ध

ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित होने लगे थे। बौद्ध-मत में वे नवीन शक्तियों से विभूषित होकर भगवान के पद पर आरूढ़ होने जा रहे थे। सम्भवतः बौद्ध-धर्म की इस नवीन प्रगति ने राम को भी देवत्व के स्थान पर आरूढ़ कर दिया हो। इस समय 'वायुपुराण' में राम को विष्णु के अवतारों में माना गया। उसमें राम ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित होते हैं। कुछ और आगे चलकर "आध्यात्म रामायण" में राम—देवत्व की चरम कोटि पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार ११ वीं शताब्दी तक राम के रूप में परिवर्द्धन होता रहा। इसी समय राम-भक्ति ने एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। रामानन्द ने १४ वीं शताब्दी में जाति-पाँति के भेद से रहित होकर उत्तर भारत में राम-मत का प्रचार किया। इस रामभक्ति का प्रचार तुलसीदास की रचनाओं द्वारा चिरस्थायी जीवन और साहित्य का एक अंग बन गया। रामानन्द जी ने दास्य-भाव से अपनी उपासना-पद्धति को प्रारम्भ किया और इसी पथ पर चल कर तुलसीदास जी ने भी "सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि" कहकर दास्यभाव की भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार रामानंद जी ने हिन्दी-साहित्य की भक्ति सम्बन्धी धारा प्रवाहित करने में यथा-योग्य परिश्रम किया। रामानन्द की हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी सेवा यही क्या कम है, कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कबीर और अपने आदर्शों से प्रवाहित होकर राम-काव्य की जो धारा हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई, उसमें जनता आजतक निराशा में आशा और शान्ति का आश्रय लेती आरही है।

राम-काव्य-धारा के सर्व प्रधान कवि तुलसीदास है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से राम-काव्य को ही नहीं, वरन् समस्त हिंदी-साहित्य को आलोक प्रदान किया है। अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसीदास ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने दोहा और चौपाई में राम-कथा को प्रथम बार प्रस्तुत किया है। महाकवि तुलसीदास ही राम-कथा के सम्राट हैं। इन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-जीवन की जितनी व्यापक और सम्पन्न समीक्षा की है, उतनी हिन्दी

साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इसके साथ ही उन्होंने ऐसे आदर्शों की स्थापना की है जो काल की गति के साथ विलीन नहीं हो सकते। इन आदर्शों की भित्ति पर अपने भक्ति के स्वरूप की इतनी अच्छी विवेचना की है कि वह तत्कालीन धार्मिक अव्यवस्था में उपयोगी सिद्ध हुई है। इस भक्ति में नीति का भी सामंजस्य हुआ है। इस प्रकार तुलसी ने विश्वव्यापी विचारों की इतनी गवेषणापूर्ण व्याख्या की है कि उसे साहित्यनिधि के सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित किया जा सकता है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने भक्ति की परिभाषा करते हुए अपना मत प्रकट किया है कि दूसरे के महत्व को स्वीकार और अपने दैन्य का अनुभव करने से श्रद्धा का भाव जागृत होता है। जब उसके साथ प्रेम की धारणा मिल जाती है तभी भक्ति का उदय होता है। इसीलिये तुलसी की भक्तिभावना में भी दास्य-भाव की प्रधानता परिलक्षित होती है। दास्य भाव में सेवक का अपना पृथक अस्तित्व नहीं रहता। प्रभु की इच्छा ही उसकी इच्छा हो जाती है। माधुर्य-भाव की भक्ति में समता की भावना आजाती है और उपासक कुछ ढीठ सा हो जाता है। उसके हृदय में इष्टदेव के प्रति महत्ता की भावना दिन पर दिन निर्बल होती जाती है। सच्ची भक्ति में इष्ट की महत्ता की स्वीकृति अत्यन्त आवश्यक है। अतः तुलसीदास जी ने स्वयं भी और परकालीन जनता के लिये भी सेव्य-सेवक भाव की भक्ति को श्रेष्ठतम सिद्ध किया है। उनकी रचनाओं में सम्पूर्ण जीवन को जागृत, स्पन्दित और अनुप्राणित करने वाली भगवान की पूर्ण कलाओं के दर्शन मिलते हैं। तुलसी ने भगवान् के लोकरक्षक धर्म को आदर्श मानकर काव्य-रचना की है। कबीर हिन्दू और मुसलमान धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा में लगे रहे। उस समय हिन्दू-जनता निराशा के निबिड़ अन्धकार में किसी अज्ञात पथ पर भटक रही थी, उसने निराकार साधना में ध्यान तो लगाया परन्तु इससे उसका निराशामय मानस-क्षेत्र आशा की ज्योति से अलोकित न हो सका। अव्यक्त सत्ता के साथ तादात्मय का भाव स्थापित करना भी कठिन था। सूफी कवि जनता

को आशा का संदेश न दे सके। सूरदास ने भगवान् के मधुरतम रूप को प्रस्तुत कर हिन्दू जाति की नैराश्य-जनित खिन्नता दूर की पर निराश हृदयों में आशा का संचार वे न कर सके। परन्तु तुलसीदास ने अपने मानस की रचना करके इष्टदेव का जो रूप उपस्थित किया है उसे देखकर जनता का निराशापूर्ण हृदय आशा के दिव्यलोक से उत्फुल्लहो उठा। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति का पथ अत्यन्त सुगम और सुबोध है। तुलसी ने ब्रह्म की सगुण सत्ता को ही स्वीकार किया है। यद्यपि वे उसकी निराकारता पर अविश्वास नहीं करते। उन्होंने स्वयं ही भगवान् की निराकारता और साकारता के अभेदत्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि:—

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहि भव-सम्भव-खेदा।"

तुलसी के राम मनुष्य हैं, ईश्वर हैं और ब्रह्म के प्रतीक हैं और सौन्दर्यशील और भक्ति के समन्वित रूप हैं। जिनका अवतार "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम" के लिये होता है। तुलसी के राम का नाम राम से भी बढ़ कर है। जिसका स्मरण करते ही यह विशाल भव-सागर सहज हो में पार हो जाता है। जिस प्रकार सूर्योदय होने से समस्त संसार से अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार हृदय गुफा में 'नाम' का उदय होते ही अज्ञान और मोह का अंधकार नाश हो जाता है। चन्द्र की शीतल और विमल किरणों से जैसे संसार की सतप्तता विनष्ट हो जाती है वैसे ही नाम रूप चन्द्रोदय के होने से 'जिय की जरनि' सदा के लिए मिट जाती है। मुक्ति का साधन भक्ति भी है और ज्ञान भी। परन्तु भक्ति उसका सरल साधन है जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ज्ञानमार्ग कठिन है जो जन-साधारण के लिये उपयुक्त नहीं। इसीलिये तुलसी ने भक्ति के द्वारा ही आध्यात्म साधना का उपदेश दिया है। सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' में कवि ने 'भक्ति' और 'राम नाम स्मरण' को प्रधानता दी है और रावणत्व पर रामत्व की विजय दिखाकर भारतीय-संस्कृति को एक जीवन सन्देश दिया है कि सदा मानव को असत पर सत की विजय करनी

चाहिये। उनका रामचरितमानस राम की अमर गाथा से सुशोभित है। रामकथा का यह ज्वलन्त दीपक है जिसके प्रकाश में जीवन का समस्त कलुष धुल जाता है। वैसे तो उनके सभी ग्रन्थ राम की उज्ज्वल गाथा से सुशोभित हैं परन्तु 'मानस' में विशेष रूप से उस अमर गाथा का चित्रण किया गया है। इसमें जीवन के साँगोपांग चित्रण हैं और साथही धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को रामकथा के साथ इस प्रकार सुसंबद्ध कर दिया गया है कि शुष्क सिद्धान्त भी काव्य की बस्तु बन गए हैं। कवि ने इस ग्रन्थ को लिखा तो स्वान्तः सुखाय है परन्तु यह स्वयं को सुखकर होने के साथ साथ सृष्टि के समस्त प्राणीवर्ग के लिये सुखाय बन गया है। यही तो कवि कला की विशेषता है। इसमें उन्होंने राम को बाल्मीकि की भाँति नरत्व के रूप में नहीं नारायणत्व से अभिभूषित करके उपस्थित किया है। अपनी सामयिक विषम परिस्थिति को देखकर कवि का हृदय विक्षुब्ध हो उठा और उनकी वाणी हिंदू राष्ट्र की संरक्षणता के हेतु 'मानस' के रूप में गूँज उठी। उन्होंने अपने साहित्य के मंथन द्वारा रामचरित चिन्तामणि का पुनुरुद्धार किया और रामत्व का मंत्र दिया। उनके 'मानस' में केवल धर्म का संस्थापन ही नहीं, बल्कि पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों के आदर्श दृष्टिगोचर होते हैं। उनके समय में आर्य संस्कृति के गगन-चुम्बी प्रासाद की जो दयनीय अवस्था थी उसे वे मरम्मत द्वारा ठीक नहीं करना चाहते थे और नहीं कोई नया रूप देने की उनकी इच्छा थी। वे तो उसे उसी रूप में पुनः साज सज्जा से उपस्थित करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम को लिया, जब कि उनके पूर्ववर्त्ती कवियों ने या तो साधारण राजाओं की गुणावली गाई या निर्गुण ब्रह्म की प्रहेलिकाओं को स्पष्ट करने के लिये जनता के समक्ष रखा। सूर आदि ने भगवान् राम से साम्य रखता हुआ रूप लिया जो केवल एकाङ्गीपन को लिये हुए था, संस्कृति का प्रतीक वह नहीं था। तुलसीदास जी ने ही राम के रूप की ऐसी कल्पना की जिससे भारतीय संस्कृति में नवीन प्रकाश चमक उठा। राष्ट्र और समाज के साथ साथ उनके पारिवारिक और

व्यक्तिगत जीवन की आदर्श भावना भी अत्यन्त भव्य है । 'मानस' में भ्रातृ प्रेम का आदर्श, तो है ही, भ्रातृ-भक्ति का साकार रूप यदि देखना हो तो आदर्श भरत दृष्टिगोचर होते हैं जो राम-पद-पंकज की शरण में रहकर राम के साथ ही अमर हो गए ।

केवल मानस ही नहीं कवि के अन्य ग्रन्थ विनय पत्रिका, गीतावली कवितावली, वैराग्य संदीपनी आदि भी उनकी विमल गाथा से सुशोभित हैं। कलियुग की संतप्तता से सताए जाने पर तुलसीदास ने अपने कष्ट के निवारणार्थ 'विनय पत्रिका' की रचना की है। यद्यपि उसमें अन्य देवताओं की भी वन्दना की है परन्तु सभी राम-भक्ति की ही वर-याचना की है । उसमें प्रधान रूप से तुलसीदास का मनोवृत्ति का ही निरूपण है। उसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-संबन्धी विभिन्न विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन है। राम-भक्ति ही इस ग्रन्थ का आदश है। राम-भक्ति प्राप्ति के सभी साधन तुलसी द्वारा उल्लिखित हैं। उसमें शान्त रस की ही मार्मिक बिवेचना की गई है। इस रस की प्रधानता के कारण ही अन्य किसी रस की सृष्टि उसमें नहीं हो सकी है। मानस में जीवन का साँगोपाङ्ग वर्णन होने के कारण नव-रसों की विमलधारा प्रवाहित हुई है। पाठक-गण जिसमें चाहें डुबकी लगाकर जीवन का रस प्राप्त कर सकते हैं। उसमें शृङ्गार रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है किन्तु मर्यादा के भीतर रह कर उसकी स्वच्छ तथा निर्मल धारा प्रवाहित होती है। सूरदास के शृङ्गार की भाँति उसमें विलासिता, अश्लीलता की दुर्गन्ध नहीं आने पाई है। इस प्रकार 'मानस' के प्रत्येक काण्ड में रस-वैचित्र्य पाया जाता है। उसमें काव्य के भी सभी गुण सुसज्जित हैं । प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य में उसका सर्वश्रेष्ठ स्थान है । अलंकारों का प्रयोग भी भाव-तीव्रता और काव्य-सौन्दर्य के लिये यथास्थान हुआ है। इसके साथ-साथ काव्य-प्रासाद के निर्माण करने के समय इनका तत्कालीन सभी शैलियों पर पूर्ण अधिकार था, जिसके कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी गोस्वामी तुलसीदास जी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है।

Vemad ullow

कविवर महाकवि तुलसीदास के पश्चात् रामकाव्य की विमल धारा कवि केशवदास के काव्य को सरस करने के हेतु ग्रहण की गई। इन्होंने जहाँ एक ओर रामकाव्य के अन्तर्गत 'रामचन्द्रिका' की रचना की वहाँ रीतिकाव्य के अन्तर्गत 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' की भी रचना की। साथ ही चारणकाल के आदर्शों को ध्यान में रखकर 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' और 'वीरसिंह देव' चरित भी लिखे। इस प्रकार केशवदास ने अपने काव्य-आदर्शों में चारणकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के आदर्शों का समुच्चय उपस्थित किया है। जिससे उनके काव्य का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में राम की समस्त कथा 'बाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव पताका या प्रकरी के रूप में ही अधिक पड़ा है। कथा-विस्तार अनियमित है और उसमें प्रबन्धात्मकता तो लेषमात्र भी नहीं है। प्रारम्भ में न तो रामावतार के कारण ही दिये गए हैं और न राम-जन्म का ही विशेष विवरण है। राजा दशरथ का परिचय देकर और रामादि चारों भाइयों के नामों का परिगणन कर विश्वामित्र के आने का वर्णन-मात्र कर दिया है। जनकपुर में धनुष-यज्ञ का वर्णन अवश्य ही सांगोपांग रूप में हुआ है। केशव का संबंध राजदरबार से होने के कारण यह वर्णन स्वाभाविक और विस्तृत रूप में हो पाया है। ऋतु वर्णन और नखशिख आदि वर्णन भी विस्तार-पूर्वक दिए गये है; क्योंकि ये काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध है और केशवदास काव्य-शास्त्र के आचार्य थे। तुलसीदास ने जहाँ अपने रामचरितमानस में घटना संबंधी हेर फेर किया है वहीं अपनी अलौकिक काव्य प्रतिभा से उसे आकर्षक भी बना दिया है। केशवदास ने भी ऐसा प्रयत्न किया है परन्तु वे उसमें सफल न हो सके। उसमें घटनाओं का आपस में शृङ्खलावत संबंध नहीं है, बीच बीच में आकस्मिक घटनाओं के द्वारा कथा प्रवाह टूट सा गया है। इसी कारण रचना में प्रबन्धात्मकता भी नहीं आने पाई है। रामचन्द्रिका न तो धार्मिक और दार्शनिक है और न उसमें लोक-शिक्षा का कोई रूप ही मिलता है; जैसाकि मानस में प्राप्त होता

है ! मनोवैज्ञानिक चित्रण भी उतनी स्वाभाविकता से नहीं, जितना 'मानस' में। 'मानस' में कैकेयी के हृदय का स्पष्ट निरूपण है, उस चरित्र में दैवी भाव रहते हुए भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक सत्य है, परन्तु 'राम चन्द्रिका' में यह प्रकरण पूर्ण उपेक्षणीय दृष्टि से देखा गया है। जहाँ अलंकार कौशल और वाग्विलास का अवसर आया है वहाँ तो केशवदास ने अपना सारा काव्य-चातुर्य प्रदर्शित कर दिया है परंतु जहाँ घटनाओं कीं विचित्रता है वहाँ कवि की वाणी मानों मूक हो गई है। अतः 'रामचन्द्रिका' में काव्य-चातुर्य स्थान स्थान पर अवश्य दर्शनीय है पर चरित्र-चित्रण या कथा की प्रबन्धात्मकता का कौशल कहीं भी दिखाई नहीं देता। भक्ति की जैसी भावना 'मानस' में स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होती है वैसी रामचन्द्रिका के किसी भी स्थल पर नही है। फलतः 'रामचन्द्रिका' से न तो दार्शनिक सिद्धान्त मिलता है और न कोई धार्मिक ही।

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अपने आचार्यत्व प्रदर्शन के हेतु, भक्ति, दर्शन आदि के आदर्शों की उपेक्षा सी कर दी है। उन्होंने केवल छंद-निरूपण के लिये ही पद-पद पर छन्दों में परिवर्तन किया है जिससे कथा-प्रवाह में व्याघात हो गया है। इसी प्रकार अलंकार-निरूपण करने के लिये भावों की अवहेलना तक कर दी है। रामचन्द्र जी की सेना का वर्णन करने में ओज गुण की अपेक्षा उनका पाण्डित्य विशेष रूप से दिखाई देता है। कवि ने प्रत्येक शब्द में तीन तीन अर्थों की सृष्टि की है जिससे वे सेना, राज्यश्री और मृत्यु तीनों पर घटित होते हैं। कुछ स्थल तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं जहाँ केशवदास ने अलंकार द्वारा भाव-व्यँजना और चित्र की स्पष्टता प्रदर्शित की है। उस स्थल पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अलंकारों का पूर्ण शासक है। केशवदास के प्रकृति-चित्रण के दृश्य सूक्ष्म-निरीक्षण और अलङ्कार के प्रयोग से अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखकर भी अपने सामने भक्ति का आदर्श नहीं रखा फिर भी केशवदास का हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान है और रामचन्द्रिका के रचयिता होने के कारण उनकी गणना रामभक्ति शाखा के कवियों में होती है।

राजनीतिक दाँव-पेच, राज-दरबार-वर्णन आदि में वे अन्य कवियों के अग्रणी हैं परन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं। राम काव्य का सृजन करने में सर्वप्रथम स्थान कविवर तुलसीदास जी का है उनके परवर्ती कवियों की रचनाएँ तो उनकी जूठन सी जान पड़ती हैं, अथवा उनमें हृदय की इतनी तल्लीनता तथा काव्य चमत्कार नहीं जिससे वे लोकप्रिय हो सकें। केशवदास की रामचन्द्रिका को जो भी स्थान हिंदी साहित्य में प्राप्त हुआ हैं वह केवल रामकथा की जनप्रियता के कारण। तत्पश्चात् नाभादास, अग्रदास, सेनापति, हृदयराम आदि की रचनाएँ राम की अमर गाथा से सुशोभित होती हैं।

कविवर महाकवि तुलसीदासजी के समकालीन कवियों में नाभादास और अग्रदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अग्रदासजी की प्रवृत्ति रामकथा की ओर अधिक आकृष्ट थी अतः रामभक्ति पर इन्होंने "हितोपदेश उपखाणां बावनी" की रचना की। इसमें कुण्डलिया छन्दों में रामगुण गान किया गया है। ध्यानमंजरी तथा रामध्यान मंजरी भी इनके द्वारा रचित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। नाभादास की प्रतिभा भी रामभक्ति के प्रति कोई मौलिक उद्भावना न कर सकी; केवल तुलसीदास के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर राम के प्रति इन्होंने अपनी पुनीत भावनाओं को अर्पित किया है। इनकी रचनाओं में भक्तितत्व प्रधान और कवित्व गौण रूप में पाया जाता है। अग्रदास नाभादास के शिष्य और तुलसी के समकालीन थे।

हृदयराम ने भाषा में 'हनुमन्नाटक' की रचना की। इसी नाम से संस्कृत में भी एक नाटक मिलता है। तुलसीदास जी के समय में राम-कथा सम्बन्धी लिखे गए सभी नाटकों में इनका नाटक सर्वश्रेष्ठ है। तत्कालीन फुटकर कवियों में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि नाटक रंगमंच के योग्य नहीं है तथापि उसमें असम्बद्धता का दोष नहीं आने पाया है। घटनाओं का क्रमिक विकास है और सम्वाद अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के सम्वादों की विशेषता ही इनकी

अपनी विशेषता है, अन्तर केवल इतना है कि संस्कृत में गद्य-पद्य दोनों हैं और इसकी रचना केवल पद्य में ही हुई है।

सेनापति भी उच्चकोटि के कवि थे, परंतु उनकी रचनाओं में कवित्व और पाण्डित्य विशेष रूप से झलकता है। हृदयपक्ष की भी नहीं। वस्तुतः इनकी रचनाओं पर केशवदास का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। रीतिकालीन प्रवृत्ति के बीज प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। कवित्त रत्नाकर का प्रथम अध्याय तो श्लेष चमत्कार से ही चमकृत है। यद्यपि इनकी जन्मभूमि वृन्दावन थी तथापि इनके इष्टदेव राम ही रहे। इनके रामभक्ति से ओतप्रोत कवित्तों में तुलसी के मानस की स्वाभाविकता, गीतावली की मधुर, स्निग्ध भावनाएँ और विनयपत्रिका सी अटल दैन्यानुभूति भले ही न मिलती हो पर भक्त की तन्मयता और एकनिष्ठता के दर्शन अवश्य होते हैं। अलंकार-योजना और चमत्कार-विधान में यह भले ही नाभादास से दूर रहे हों परन्तु भीतरी प्रकाशमान भक्त हृदय की अवहेलना नहीं की जा सकती। अनुमति में वे नाभादास से कम नहीं हैं। सिद्धान्त से ये तुलसीदास के अनुयायी थे और राम-भक्ति वत्सल रूप ही इन्हें अधिक प्रिय था तथा राम और शिव की एकता पर इन्होंने विशेष रूप से बल दिया है। राम के वीरत्व का वर्णन भी बड़े उत्साह और उमंग से किया है। वे सगुणोपासना के पक्षपाती थे परन्तु निर्गुण के प्रति भी उन्होंने अविश्वास प्रकट नहीं किया है। इसके अतिरिक्त ऋतु-वर्णन में कवि की कला भी निखर उठी है। उसमें ओजस्विता का होना इनकी अपूर्व विशेषता है।

इसी प्रकार और भी अनेक कवियों ने रामभक्ति सम्बन्धी रचनाएँ की परन्तु किसी में भी तुलसी से बढ़कर स्थान प्राप्त करने का वह महत्व और सौन्दर्य नहीं। गोस्वामी जी के पश्चात् रामभक्ति की धारा में धीरे-धीरे क्षीणता आती गई। रामकाव्य में वह प्रगतिशीलता न रह गई जो किसी काव्य समुदाय को अथवा सहृदयों का मनोरंजन करने वाली सिद्ध होती। रामभक्ति की धारा में क्षीणता का एक कारण यह भी है कि उसमें साम्प्रदायिकता प्रविष्ट होने लगी। साम्प्रदायिकता से

तात्पर्य है तल्लीनता का अभाव और बाह्य आचरणों और आडम्बरों के प्रति झुकाव। राम-भक्ति शाखा में भी इसका समावेश होने लगा। सीता की शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन तथा भक्तों का सीता के साथ सपत्नी भाव इस सम्प्रदाय को भी विकृत करने लगा। परंतु गोसाईंजी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की प्रतिष्ठा की थी, इसीलिये रामभक्ति का यह सम्प्रदाय उसे अधिक विकृत न कर सका। इसके अतिरिक्त तुलसी के अद्वितीय कौशल के कारण भी कोई परवर्ती कवि उतनी महानता प्राप्त न कर सका। केशवदास ने रामचन्द्रिका लिखी तो अवश्य, परन्तु वे अपना दृष्टिकोण भक्तिमय न बना सके। उनके पात्र भी अपने चरित्र की श्रेष्ठता अक्षुण्ण न रख सके और राम-साहित्य का सारा भक्ति-उन्मेष काव्य-प्रणाली की निश्चित धाराओं में केशव का नीरस पांडित्य लेकर बह गया। इस प्रकार राम-साहित्य अपनी भक्ति-भावना के साथ तुलसी की कविता में वन्दी होकर रहा, और उसे अपने विस्तार का विशेष अवसर प्राप्त न हुआ।

इस प्रकार रामभक्ति शाखा में जो ह्रास हो रहा था, द्विवेदी युग में आकर फिर उसकी प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं। राम-भक्ति के क्षेत्र में फिर एक नवीन धारा स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होने लगी। तुलसी की उस भक्ति-भावना का सूत्रपात फिर २० वीं शताब्दी में रामचरित्र उपाध्याय के "रामचरित चिंतामणि" और मैथलीशरणगुप्त के 'साकेत' में हुआ। गुप्तजी ने राम की कथा को एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया है। बालमीकि के राम की मानवीयता जो भक्तिकाल में राम के अलौकिकत्व से दब गई थी, फिर उन्मेष को प्राप्त हुई। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुप्त जी में भक्ति-भावना का अभाव है। आज के युग में प्रत्येक तथ्य को कसौटी पर कसना धर्म-सदृश्य आवश्यक माना जाता है। गुप्त जी भी अपने समय की इस प्रवृत्ति से वंचित न रहे। उनके राम सर्वत्र विश्व में व्याप्त हैं। उन्होंने राम को ईश्वर का विश्व-व्यापी रूप देकर अपना आराध्य मान लिया। हरिऔध की राधा यदि

विश्व-प्रेम में दीक्षित है तो यशोधरा विश्व-कल्याण में तत्पर। राम चराचर-व्यापी हैं, परन्तु इस युग में राम के ईश्वरत्व की भावना में उनकी विश्व व्यापकता पर अधिक बल दिया गया है और इस प्रकार राम से प्रेम करना समस्त विश्व से प्रेम करना है। इस प्रकार विश्व बन्धुत्व की भावना पर अधिक बल दिया गया है। गुप्त जी ने अपने राम को भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित किया है :—

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करें।

इस प्रकार गुप्त जी के राम विश्वव्यापी हैं, ईश्वर हैं और उन्होंने मनुष्य का अवतार लिया है। "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्" की भावना से उत्प्रेरित होकर गुप्त जी ने अपने आराध्य राम को मानव रूप में अवतरित किया है। इस भू-लोक में राम-राज्य की स्थापना करने और पतितों को उद्धार कर ईश्वरता का रूप प्रदान करने के लिये ही राम ने अवतार लिया है। उनके राम इस लोक में स्वर्ग का सन्देश लेकर नहीं आये वरन् यहीं पर स्वर्ग का निर्माण करने के लिये आये हैं। कवि ने स्वयं ही विश्वव्यापी राम के मुख से यह कहलवाया है कि मैं—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया !
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया !
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया !

वास्तव में 'साकेत' राम चरित का सुन्दर काव्य है। यद्यपि इसमें लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि कुछ पात्रों का चित्रण शिष्टता की मर्यादा का उलंघन अवश्य कर गया है। परन्तु जहाँ तक राम और सीता के चरित्र से सम्बन्ध है वहाँ तक वह आदर्शों और वर्तमान सामाजिक नीति के सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। 'साकेत' की सबसे महान् सफलता 'कैकेयी'

के चरित्र-चित्रण में है। उसमें मानव-हृदय की दुर्बलता और पश्चाताप का जितनी सफलता से चित्राँकन किया गया है उतनी सफलता से सम्भवतः 'साकेत' की कोई भी घटना नहीं।

गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि उनमें विश्व-बँधुत्व की भावना विशेष रूप से पाई जाती है। अपने समय की देश की दीन-हीन दशा को देखकर उनकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी। परन्तु गुप्त जी निराश न हुए, आशा की किरण उनकी मानस-प्रेरणाओं को प्रोत्साहित करती रही। उन्हें विश्वास था कि अपने अतीत के दर्शन कर वर्तमान और भविष्य भी तद्नुरूप बन सकता है। इसीलिये वे हमारे सामने खँडहरों से लाकर चित्र सजाया करते हैं। उन्होंने राष्ट्रवासियों को सन्देश भी दिया है—

"क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो !
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो !"

गुप्त जी की मानसिक पृष्ठभूमि में राष्ट्रीयता का स्वर सब से ऊँचा है। उनके विश्व प्रेम में वह शक्ति है जो घर-घर में सदाचार और उन्नत भावों को प्रतिष्ठित कर दे। वे प्राचीनता के पक्षपाती हैं, परन्तु उसका अन्धानुकरण नहीं करते। प्रतिक्रिया को वे सदा ही हीन समझते हैं। यही कारण है कि उनकी राष्ट्रीयता और दिश्वबन्धुत्व में प्राचीनता और नवीनता का मधुर तथा विवेकपूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है।

वस्तुतः वे भारतीय संस्कृति के कवि है। उनकी प्रत्येक रचना भारतीय जीवन के बीच प्राचीन आर्य संस्कृति के दर्शन कराती है। 'साकेत' जीवन-काव्य है। हिन्दू-जीवन का आदर्श और राम का चरित्र ही उसका पूर्ण विषय है। अनार्य सभ्यता ने आनार्य सभ्यता को अभिभूत कर रखा था। उस समय धर्म की संस्थापना के लिये ही राम का मानव रूप में अवतार हुआ है। राक्षस रावण ने हिन्दू-धर्म पर कलँक का धब्बा लगा दिया था और राज लक्ष्मी सीता को हरण कर लंका में जाकर रखा। फिर होने वाले राम रावण के पारस्परिक युद्ध को

कवि ने आर्य और अनार्य सभ्यता के संघर्ष के रूप में लिया और राम की विजय में आर्य संस्कृति की विजय दिखाकर कवि ने सर्वत्र आनन्दोल्लास का वर्णन किया है। राम की रावण पर विजय-सत्य की असत्य पर अथवा रामत्व की रावणत्व पर विजय की प्रतीक है।

राम को मानव रूप में ग्रहण करने के कारण गुप्त जी ने उनके आदर्श गृहस्थ जीवन का भी चित्र अंकित किया है। उनका पारिवारिक जीवन तो सुखद और मर्यादित है ही साथ ही उनका सामाजिक और राजनीतिक जीवन भी मर्यादाओं की सीमाओं में बंधकर आदर्श उपस्थित करता है। साकेत में पारिवारिक जीवन के सम्पूर्ण चित्र आदर्श पर ही आधारित लक्षित होते हैं। वस्तुतः 'साकेत' एक जीवन काव्य है। गुप्त जी के अनुसार तो कला जीवन के लिये है। जो लोग कला को कला के अर्थ ही समझते हैं वे व्यर्थ उसको स्वार्थिनी सिद्ध करते हैं। अतः उनके काव्य में तो आदर्श जीवन के सन्देश स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। राम मर्यादा और धर्म के प्रतीक थे तो लक्ष्मण कर्त्तव्य और पौरुष के अवतार। तुलसी के लक्ष्मण भी पुरुषार्थ की संजीवनी से अनुप्राणित हैं। गुप्तजी की रचनाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने राम-कथा के भिन्न-भिन्न अंगों को नवीन दृष्टिकोण से देखा है। उनके चरित्र आदर्श हैं पर मानवता से परे नहीं। मानवेतर चरित्र उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं हैं। वे मनुष्य को ही देवता बना देना चाहते हैं। परन्तु वे निराशावादी नहीं हैं। वर्तमान प्रवृत्ति करुणा का प्रभाव तो उन पर पूर्णरूपेण पड़ा है परन्तु आशा की दिव्य ज्योति का प्रकाश सदैव ही उन्हें अनुप्राणित किया करता है।

'साकेत' में करुण रस ही प्रधान है, श्रृंगार उसका उपकारक बनकर आया है। प्रथम सर्ग ही उर्मिला और लक्ष्मण के आल्हाद-पूर्ण मधुर विनोद से परिप्लावित दिखाई देता है, जो भविष्य में आनेवाली आपत्ति को और भी द्विगुणित कर देता है। उर्मिला के विरह वर्णन को चित्रण करने की प्रेरणा कवि ने कवीन्द्र रवीन्द्र आदि कवियों से प्राप्त की जिनके हृदय में इस आदर्श प्रतिमा के अनादर का भाव खटका और उन्होंने तुलसी

बाल्मीकि आदि कवियों को भी इसके लिये दोषी ठहराया। अतः इस कवि ने भी उपेक्षित आत्माओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक और मार्मिकता से चित्रण किया है। इस दृष्टि से भी कवि का विशेष महत्त्व है।

प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी गुप्तजी का 'साकेत' एक सफल काव्य है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के नियमों के अनुकूल ही प्रस्तुत काव्य में सभी नियम पाये जाते हैं। महाकाव्य के एक आवश्यक दृश्य प्रकृति-चित्रण की भी इसमें सुन्दर योजना की गई है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के नाना व्यापारों का मार्मिक चित्रण किया गया है। गुप्तजी ने भी प्रकृति के इसी स्वरूप को अपनाया है। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति का तीनों रूपों में प्रयोग किया है—शुद्ध प्रकृति का वर्णन, प्रकृति का अलंकारिक रूप में प्रयोग और पात्रों की भावनाओं से प्रतिबिम्बित वर्णन। परन्तु उन्होंने जहाँ कहीं भी प्रकृति-सुन्दरी का आँचल पकड़ा है वहीं उनकी तूलिका भी सुन्दर और रंजित चित्रों को चित्रित कर जाती है।

काव्य में अलंकारों को भाव-प्रकाशन के उपायमात्र के रूप में ही लिया है। वे केवल अभिव्यंजना की प्रणाली मात्र हैं। उनके अलंकार भाव व्यंजक होकर आए हैं, काव्य के भार होकर नहीं। काव्य की कोमल कान्त शब्दावली भी प्रसाद गुण से युक्त है। हाँ कहीं २ गंभीर भी हो उठी है, वह भी परिस्थिति के कारण ही उनकी भाषा भावों के अनुकूल चलती है। अपनी भाषा के बल पर गुप्तजी ने मानव जगत और प्रकृति-जगत् के चित्रों में सजीवता का संचार कर दिया है। वर्तमान युग के कवियों में गुप्तजी ने सबसे अधिक विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ उनके काव्य में गीति-तत्व विशेष रूप से पाया जाता है जो काव्य का सर्वप्रधान गुण है।

गुप्तजी के अतिरिक्त इस युग में राम-काव्य पर अवलम्बित रचना करने वाले हरिऔध भी हैं। यद्यपि वे आज के युग में कृष्ण काव्य के प्रतीक हैं पर उन्होंने "वैदेही-वनवास" की रचना कर राम-कथा के प्रति भी अपनी रुचि दिखलाई है। हरिऔध जी राम की रामायण से

नरत्व की ओर अधिक ले आये हैं। उन्होंने प्रत्येक घटना को नरत्व की दृष्टि से समझने का प्रयास किया है। कुछ आलोचकों की इस विषय में आपत्ति है कि उपाध्यायजी ने शुद्ध भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ की रचना नहीं की है। जिस प्रकार 'प्रियप्रवास' में कृष्ण का आदर्श चरित्र काव्य-दृष्टि से अपनाया है उसी प्रकार "वैदेही वनवास" में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को नहीं लिया है। महाकवि तुलसी ने रामकाव्य के सीता निर्वासन अंश को छोड़ दिया है। करुण कवि भवभूति को यह अंश अधिक प्रिय लगा और उन्होंने 'उत्तर रामचरित' की रचना की। उसी 'उत्तर रामचरित' के अनुकरण पर ही उपाध्याय ने "वैदेही वनवास" की रचना की है।

उपाध्यायजी ने प्रत्येक अलौकिक पात्र में मानवी गुणों का आरोप करने का प्रयत्न किया है। उनकी विश्व प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना उनकी प्रत्येक रचना में प्रतिफलित होती है । प्रियप्रवास की राधा यदि विश्व की प्रेमिका है तो जनकनन्दिनी सीता माता भी लोकहित से विमुख नहीं है। सीता के चरित्र में इस नूतनता का रंग लाने का श्रेय केवल उपाध्यायजी को ही है। तुलसी की सीता आदर्श गृहिणी है। उनका क्षेत्र राम और उनके (राम के) परिवार तक ही सीमित है। गुप्तजी की सीता प्रजा की कल्याण कामना के लिए सजग दिखाई देती हैं उपाध्याय जी की कल्पना ने सीता को एक पग और आगे बढ़ा दिया है।

"कर मंगल कामना प्रसव की।
जननि क्रिया की सद्वाञ्छा से।
सकल सोक उपकार परायण।
पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा से॥"

वैदेही-बनवास में अठारह सर्ग हैं और उनमें करुण रस की ही प्रधानता है। भवभूति की सीता में जो करुण के, उद्वेग के और वेदना के दर्शन होते हैं वह उपाध्याय जी की सीता में नहीं। उपाध्याय जी की आदर्श-भावना के कारण ही उनकी सीता की वेदना उसके भार से दब गई है। करुण रस के पश्चात् उनके काव्य में शान्त रस के दर्शन होते

हैं। हाँ, वात्सल्य रस का सुन्दर निर्वाह अवश्य हुआ है। उपाध्याय जी प्रकृति के भी परम उपासक हैं। उनके काव्य में प्रकृति में तल्लीन कर देने वाले अनुराग के दर्शन होते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति महाकाव्य की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रकृति के स्वाभाविक रूप माधुर्य को देखने का ही प्रयत्न किया है। उस पर कल्पनाओं का आरोप बहुत कम किया है। बसन्त ऋतु में बनस्थली का स्वाभाविक और रम्य चित्र अत्यन्त आकर्षक है:—

कितने पादप लाल-लाल कोंपल मिले,
ऋतुपति के अनुराग-रंग में थे रंगे।
बने मंजु-परिधान बाम बहु-बिटप,
शाखाओं में हरित नवल दल के लगे॥

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से राम और सीता के चरित्र में ही विशेष विकास हुआ है। भवभूति के राम ने लोकापवाद के भय से सीता को वन-दर्शन के ही बहाने निर्वासित किया है। यह बात आधुनिक आदर्श की दृष्टि से खटकने वाली है। उपाध्याय जी के राम ने लोकापवाद की समस्या पर सीता की सलाह लेकर अपने हृदय की दुर्बलता के कलंक को दूर करने का प्रयत्न किया है। "वैदेही-वनवास" में सीता के निर्वासन पर भाइयों से परामर्श लिया है। भाइयों के विचारानुसार इस लोकापवाद का कारण लवणासुर तथा गन्धर्वों का कुचक्र है अतः उनको दण्ड देना लक्ष्मण को अभीष्ट है। हरिऔध के राम क्षमा और सहनशीलता के अवतार हैं। सीता का आदर्श चरित्र भी अत्यन्त सुन्दर रूप में अङ्कित किया गया है। शान्ति उनकी कामना है और विश्व-कल्याण उनका ध्येय, पति-सेवा उनका कर्त्तव्य और पति ही उनकी गति है।

इस प्रकार आरम्भ से ही राग काव्य की धारा एक विशिष्ट मर्यादा को साथ लिये प्रवाहित होती आ रही है। अपने २ युग का प्रतिबिम्ब प्रत्येक काव्य में स्पष्ट झलकता दीख पड़ता है। साकेत में भी यह विशेषता किसी से कम नहीं है। अवधी और ब्रज में राम काव्य का विकास हुआ और बहुत उच्च स्तर तक हुआ इसमें सन्देह नहीं किन्तु खड़ी

बोली में अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर रामकथा को एक नया मोड़ देकर गुप्त जी ने भी कुछ कम सराहनीय कार्य नहीं किया है। काव्य की भाव पक्ष की दृष्टि से, मार्मिक घटनाओं के चयन की दृष्टि से अथवा पात्रों के चरित्र विकास की दृष्टि से यदि हम साकेत को राम-चरितमानस के पश्चात् द्वितीय स्थान दें तो अनुचित न होगा, केशव की रामचन्द्रिका कला पक्ष में साकेत से विशिष्ट कही जा सकती है किन्तु हृदय का स्थान शरीर से अधिक महत्त्व का है इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

———

72 — krishna

71 — Pandit

70 — Shuber

68 — kamla

Jai
67 — Jain

65 —

61 — खुशकली

63 — krishna

62 — निर्मला

59 — बिकू